औपनिवेशिक और औपनिवेशिकोत्तर शासन के खिलाफ वन संसाधनों की पहुंच के लिए जनजातीय संघर्षों के ऐतिहासिक साक्ष्य: झारखंड के संदर्भ में एक अध्ययन

पीएच.डी. शोध प्रबंध

डिग्री के लिए आवश्यकताओं की आंशिक पूर्ति में

डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी

इतिहास विभाग

द्वारा प्रस्तुत

श्रीमती संध्या लकड़ा

नामांकन संख्या- YBNU2001207

अंतर्गत देखरेख और मार्गदर्शन में

डॉ. सुस्मिता महापात्रा

(एसोसिएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष इतिहास विभाग)

को प्रस्तुत

वाई.बी.एन. विश्वविद्यालय, राँची

जुलाई , 2025

<u>अभ्यर्थी की ओर से वचनबद्धता</u>

मैं, **संध्या लकड़ा,** यह प्रमाणित करती हूँ कि मैंने **"औपनिवेशिक और औपनिवेशिकोत्तर शासन के खिलाफ वन संसाधनों की पहुंच के लिए जनजातीय संघर्षों के ऐतिहासिक साक्ष्य: झारखंड के संदर्भ में एक अध्ययन"** विषय पर अपना शोध कार्य सफलतापूर्वक पूर्ण कर लिया है। यह शोध प्रबंध वाईबीएन विश्वविद्यालय, रांची, झारखंड के इतिहास विभाग में डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी (Ph.D.) की डिग्री की आवश्यकताओं की आंशिक पूर्ति हेतु **एसोसिएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, डॉ. सुस्मिता महापात्रा** के कुशल मार्गदर्शन में प्रस्तुत किया गया है।

मैं यह भी घोषणा करती हूँ कि यह शोध कार्य मेरा मौलिक और स्वतंत्र प्रयास है तथा इसे मैंने किसी अन्य विश्वविद्यालय या संस्थान में किसी डिग्री या डिप्लोमा की प्राप्ति हेतु प्रस्तुत नहीं किया है।

संध्या लकड़ा
इतिहास विभाग
वाईबीएन विश्वविद्यालय, रांची, झारखंड

<u>स्व-घोषणा</u>

मैं, **संध्या लकड़ा**, यह घोषणा करती हूँ कि "**औपनिवेशिक और औपनिवेशिकोत्तर शासन के खिलाफ वन संसाधनों की पहुंच के लिए जनजातीय संघर्षों के ऐतिहासिक साक्ष्य: झारखंड के संदर्भ में एक अध्ययन**" शीर्षक शोध प्रबंध, वाईबीएन विश्वविद्यालय, रांची, झारखंड के इतिहास विभाग में डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी (Ph.D.) की डिग्री की आंशिक पूर्ति हेतु प्रस्तुत किया गया है। यह शोध कार्य **एसोसिएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, डॉ. सुस्मिता महापात्रा** के कुशल मार्गदर्शन में संपन्न किया गया है।

मैं यह भी स्पष्ट करती हूँ कि यह शोध प्रबंध मेरा मौलिक एवं स्वतंत्र अनुसंधान है, जिसके निष्कर्ष क्षेत्रीय स्तर पर एकत्रित तथ्यों एवं आंकड़ों पर आधारित हैं। इस शोध को पूर्व में किसी अन्य विश्वविद्यालय या संस्था में डिग्री या डिप्लोमा प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रस्तुत नहीं किया गया है।

यह कार्य केवल वाईबीएन विश्वविद्यालय, रांची, झारखंड में डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी (Ph.D.) डिग्री की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रस्तुत किया गया है।

संध्या लकड़ा
नामांकन संख्या: **YBNU2001207**
इतिहास विभाग
वाईबीएन विश्वविद्यालय, रांची, झारखंड

<u>कॉपीराइट हस्तांतरण प्रमाण पत्र</u>

थीसिस का शीर्षक:

"औपनिवेशिक और औपनिवेशिकोत्तर शासन के खिलाफ वन संसाधनों की पहुंच के लिए जनजातीय संघर्षों के ऐतिहासिक साक्ष्य: झारखंड के संदर्भ में एक अध्ययन"

शोधकर्ता: **संध्या लकड़ा**

<u>कॉपीराइट हस्तांतरण</u>

मैं, संध्या लकड़ा, उपरोक्त शीर्षक से प्रस्तुत **पीएचडी शोध प्रबंध** की **मौलिक लेखिका** के रूप में, यह प्रमाणित करती हूँ कि यह कार्य मेरा स्वतंत्र एवं मौलिक अनुसंधान है। मैं स्वेच्छा से इस शोध प्रबंध का **कॉपीराइट वाईबीएन विश्वविद्यालय, रांची, झारखंड** को हस्तांतरित करती हूँ।

यह कॉपीराइट हस्तांतरण केवल विश्वविद्यालयीय और शैक्षणिक प्रयोजनों के लिए किया गया है, ताकि विश्वविद्यालय इस कार्य को संग्रहित, प्रसारित अथवा प्रकाशित कर सके।

मैं यह भी स्वीकार करती हूँ कि शोध प्रबंध के किसी भी भाग का पुनर्प्रकाशन या पुनःप्रस्तुति बिना विश्वविद्यालय की अनुमति के नहीं की जाएगी।

संध्या लकड़ा

नामांकन संख्या: **YBNU2001207**

इतिहास विभाग

वाईबीएन विश्वविद्यालय, रांची, झारखंड

PLAGIARISM REPORT

YBN University

Certificate of Plagiarism Check for Thesis

Author Name	SANDHYA LAKRA
Course of Study	Ph.D.
Name of Guide	DR.SUSMITA MOHAPATRA
Department	HISTORY
Acceptable Maximum Limit	10
Submitted By	centrallibrary@ybnu.ac.in
Paper Title	औपनिवेशिक और औपनिवेशिकोत्तर शासन के खिलाफ वन संसाधनों की पहुंच के लिए जनजातीय संघर्षों के ऐतिहासिक साक्ष्य: झारखंड के संदर्भ में एक अध्ययन
Similarity	4%
Paper ID	3334084
Total Pages	196
Submission Date	2025-02-15 12:54:24

Signature of Student   Signature of Guide

Head of the Department

University Librarian   DEAN

प्रमाण पत्र

यह प्रमाणित किया जाता है कि **श्रीमती संध्या लकड़ा**, पंजीयन संख्या **YBNU2001207**, ने मेरे निर्देशन में निर्धारित सत्रावधियों के अंतर्गत **"औपनिवेशिक और औपनिवेशिकोत्तर शासन के खिलाफ वन संसाधनों की पहुंच के लिए जनजातीय संघर्षों के ऐतिहासिक साक्ष्य: झारखंड के संदर्भ में एक अध्ययन"** विषय पर **डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी (Ph.D.)** की उपाधि हेतु सफलतापूर्वक शोध कार्य सम्पन्न किया है।

श्रीमती संध्या लकड़ा का **चरित्र एवं व्यवहार शोधोपाधि हेतु उपयुक्त** है। मैं यह भी प्रमाणित करती हूँ कि मेरी जानकारी के अनुसार इस शोध प्रबंध के किसी भी अंश को पूर्व में किसी अन्य विश्वविद्यालय द्वारा किसी भी डिग्री या डिप्लोमा के पुरस्कार हेतु प्रस्तुत नहीं किया गया है।

अतः मैं उन्हें **वाई.बी.एन. विश्वविद्यालय, रांची, झारखंड** में **डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी (Ph.D.)** उपाधि हेतु अपना शोध प्रबंध प्रस्तुत करने की **सहर्ष अनुमति प्रदान करती हूँ**।

शोध पर्यवेक्षिका
डॉ. सुस्मिता महापात्रा
एसोसिएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष
इतिहास विभाग
वाई.बी.एन. विश्वविद्यालय, रांची, झारखंड

आभार ज्ञापन

प्रस्तुत शोध प्रबंध "**औपनिवेशिक और औपनिवेशिकोत्तर शासन के खिलाफ वन संसाधनों की पहुंच के लिए जनजातीय संघर्षों के ऐतिहासिक साक्ष्य: झारखंड के संदर्भ में एक अध्ययन** " मेरे गहन अध्ययन एवं मेहनत का प्रतिफल है लेकिन इसे साकार रूप देने में मेरे गुरुजनों, परिजनों, का विशेष सहयोग रहा है। सर्वप्रथम मैं अपने शोध निर्देशिका **डॉ. सुस्मिता महापात्रा** को हृदय से नमन करती हूँ । उनके निरंतर सहयोग, समर्थन, कुशल मार्गदर्शन एवं आशीर्वाद के बिना प्रस्तुत शोध कार्य को परिणाम तक पहुंचाना असंभव होता। विषय चयन से लेकर तथ्यों के संग्रह, विवेचन विश्लेषण तथा निष्कर्ष प्राप्ति की प्रक्रिया में इनका योगदान अमूल्य, अतुल्य, विद्वतापूर्ण तथा अविस्मरणीय रहा है।

शोध प्रबंध को लेकर मुझे नैतिक संबल मेरी माता **श्रीमती ज्योति जमीरा लकड़ा** एवं पिता **श्री विनोद लकड़ा** से आशीर्वाद के रूप में प्राप्त हुआ एवं उत्साहवर्धन के लिए मेरे पति **श्री हरित तिर्की** एवं ससुर **श्री सुशील तिर्की** एवं सास **रोजलीन देमता** का भरपूर सहयोग मिला। इस शुभ अवसर पर अपने विश्वविद्यालय के विद्वान पदाधिकारीगण तथा प्राध्यापकों के प्रति श्रद्धा अर्पित करती हूँ, जिनमें प्राध्यापक (डॉ०) एस पी यादव (कुलपति), डॉ० श्री रमन दुबे (कुलसचिव), प्राध्यापक (डॉ०) शर्वण कुमार सिंह (डीन एवं परीक्षा नियंत्रक), डॉ० सुष्मिता महापात्रा (विभागाध्यक्ष), डॉ० विजया बिरुआ , डॉ० संजय कुमार एवं डॉ० श्याम देव गोंड का आशीर्वाद प्रमुख है।

अंत में मैं उन सभी लेखकों, राजनीति शास्त्रकारों, विद्वानों एवं गैर सरकारी संस्थाओं के प्रति कृतज्ञता अर्पित करती हूँ जिनकी पुस्तकों, लेखों ,शोध पत्रों से मुझे शोध कार्य में किसी न किसी रूप में सहयोग मिला है।

शोधप्रज्ञ

श्रीमती संध्या लकड़ा
इतिहास विभाग

प्रस्तावना

प्रस्तावना

यह शोध-प्रबंध "औपनिवेशिक एवं औपनिवेशिकोत्तर शासन के खिलाफ वन संसाधनों की पहुँच के लिए जनजातीय संघर्षों के ऐतिहासिक साक्ष्य: झारखंड के संदर्भ में एक अध्ययन" शीर्षक के अंतर्गत झारखंड राज्य में रहने वाले जनजातीय समुदायों के संघर्षों, अधिकारों, और वन संसाधनों की स्थिति का एक गहन विश्लेषण प्रस्तुत करता है। यह कार्य न केवल ऐतिहासिक घटनाओं का अध्ययन करता है, बल्कि वर्तमान सामाजिक, आर्थिक और नीतिगत संदर्भ में भी जनजातीय अस्तित्व के लिए वनों के महत्व को उजागर करता है।

अध्याय 1: परिचय

यह अध्याय वन संसाधनों के सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक महत्त्व को रेखांकित करता है। इसमें औपनिवेशिक काल में ब्रिटिश नीति के तहत वन नियंत्रण, स्वतंत्र भारत की वन नीतियाँ, लकड़ी आधारित संसाधनों का दोहन एवं संरक्षण, तथा झारखंड की जैव विविधता पर विशेष चर्चा की गई है। साथ ही, विभिन्न वन उत्पाद जैसे लाह, तेंदू पत्ता, महुआ, चिरौंजी, औषधियाँ, और शहद के पारंपरिक उपयोग को रेखांकित किया गया है।

अध्याय 2: साहित्य समीक्षा

यह अध्याय पिछले शोधों, लेखों, सरकारी रिपोर्टों और इतिहासकारों के दृष्टिकोणों की समेकित समीक्षा प्रस्तुत करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जनजातीय संघर्षों को लेकर विभिन्न समयों में क्या अध्ययन हुए हैं, और वर्तमान अध्ययन उनसे किस प्रकार भिन्न और व्यापक है।

अध्याय 3: औपनिवेशिक शासन के खिलाफ जनजातीय संघर्ष

इस खंड में कोल विद्रोह, कंडाली संघर्ष और चिपको आंदोलन जैसे ऐतिहासिक जनांदोलनों का विश्लेषण किया गया है। इन आंदोलनों के माध्यम से यह बताया गया है कि किस प्रकार जनजातीय समुदायों ने ब्रिटिश शासन की वन-नीतियों के खिलाफ संगठित प्रतिरोध किया और अपने पारंपरिक अधिकारों की रक्षा हेतु संघर्ष किया।

अध्याय 4: औपनिवेशिकोत्तर शासन के खिलाफ जनजातीय संघर्ष

यह अध्याय स्वतंत्र भारत में जारी जनजातीय आंदोलनों का वर्णन करता है, जैसे कंधमाल आंदोलन, नर्मदा बचाओ आंदोलन और भूमि अधिकार आंदोलन। इन आंदोलनों ने सरकार की विकास योजनाओं, विस्थापन और संसाधनों के एकाधिकार के खिलाफ आवाज़ उठाई।

अध्याय 5: झारखंड के संदर्भ में ऐतिहासिक साक्ष्यों का मूल्यांकन

यह अध्याय अध्याय 3 और 4 में वर्णित आंदोलनों की झारखंड के भूगोल और समाज में प्रासंगिकता का आकलन करता है। इसमें यह समझने का प्रयास किया गया है कि झारखंड में किस प्रकार के संघर्ष हुए, और उन्होंने जनजातीय अधिकारों को किस सीमा तक सुरक्षित किया।

अध्याय 6: औपनिवेशिक और औपनिवेशिकोत्तर संघर्षों की तुलना

इस खंड में एक तुलनात्मक दृष्टिकोण से दोनों कालों के संघर्षों का विश्लेषण किया गया है। इसमें संघर्ष के स्वरूप, कारण, नीतिगत प्रतिक्रियाएँ और परिणामों की समानता और भिन्नता को सारणीबद्ध रूप में प्रस्तुत किया गया है।

अध्याय 7: प्राथमिक डेटा विश्लेषण

यह अध्याय सर्वेक्षण के माध्यम से प्राप्त आँकड़ों के विश्लेषण पर आधारित है। इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि वनों पर निर्भरता, सरकारी नीतियों की भूमिका, जनजातीय संघर्षों की धारणा, तथा FRA 2005 और FCA 2022 के प्रभाव पर लोगों की क्या राय है। यह खंड शोध को जमीनी साक्ष्यों से जोड़ता है और आधुनिक नीतिगत परिप्रेक्ष्य में जनजातीय अनुभवों को सामने लाता है।

अध्याय 8: निष्कर्ष और अनुशंसाएँ

यह अंतिम अध्याय पूरे शोध का समाहार प्रस्तुत करता है। इसमें प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर नीति-निर्माताओं के लिए सुझाव दिए गए हैं कि किस प्रकार जनजातीय समुदायों के वन अधिकारों को बेहतर तरीके से सुरक्षित किया जा सकता है। यह अध्याय सामाजिक न्याय, सतत विकास और भागीदारी आधारित शासन की दिशा में मार्गदर्शन करता है।

यह शोध न केवल अतीत की घटनाओं की पुनर्पुष्टि करता है, बल्कि वर्तमान समय में वन संसाधनों तक पहुँच के लिए जारी संघर्षों की गहराई को भी उजागर करता है। यह कार्य सभी शोधकर्ताओं, नीति-निर्माताओं, सामाजिक कार्यकर्ताओं और इतिहास प्रेमियों के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है जो भारत के जनजातीय समाज और उनकी प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भरता को समझना चाहते हैं।

सारांश

यह अध्ययन झारखंड राज्य के जनजातीय समुदायों द्वारा वन संसाधनों की रक्षा, उपयोग और उन तक पहुँच के लिए किए गए संघर्षों के ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक और नीतिगत पक्षों का एक समग्र और प्राथमिक डेटा-आधारित विश्लेषण प्रस्तुत करता है। झारखंड की जनजातियाँ लंबे समय से वनों पर आश्रित रही हैं न केवल आर्थिक दृष्टिकोण से, बल्कि सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक रूप से भी। वनों से इनका संबंध जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से जुड़ा हुआ है। जल, जंगल और जमीन की त्रयी आदिवासी जीवन के केंद्र में है। परंतु इस अस्तित्व के आधार को सबसे अधिक चुनौती औपनिवेशिक काल से लेकर आज तक शासन व्यवस्था, कानूनों और आर्थिक विकास की परियोजनाओं से मिली है।

ब्रिटिश शासन के दौरान 1864 में भारतीय वन विभाग की स्थापना और 1878 के भारतीय वन अधिनियम के लागू होने के बाद वनों को 'सरकारी संपत्ति' घोषित कर दिया गया। इससे पहले तक जनजातीय समुदाय इन वनों का परंपरागत रूप से उपयोग करते थे। लेकिन औपनिवेशिक सरकार की नीति में वनों को राजस्व का स्रोत मानते हुए जनजातियों को इनके उपयोग से हटा दिया गया। इसने न केवल उनकी आजीविका को प्रभावित किया, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक ताने-बाने को भी नुकसान पहुँचाया। इसका परिणाम था कई जनजातीय विद्रोहों का उभार, जिनमें बिरसा मुंडा का 'उलगुलान' एक प्रमुख उदाहरण है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अपेक्षा थी कि जनजातीय समुदायों को उनके पारंपरिक अधिकार लौटाए जाएंगे, लेकिन राज्य द्वारा वन नीति में कोई बड़ा बदलाव नहीं किया गया। वनों को संरक्षित क्षेत्र घोषित करना, खनन व औद्योगिकीकरण को प्राथमिकता देना, और राष्ट्रीय उद्यानों की स्थापना जैसे उपायों ने जनजातियों को पुनः वनों से वंचित किया। 1952 की राष्ट्रीय वन नीति और बाद के वन संरक्षण अधिनियम (1980) ने वनों को राज्य संपत्ति बनाए रखा। हालांकि, 2005 में पारित 'वन अधिकार अधिनियम (FRA)' इस दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम रहा, जिसने जनजातीय समुदायों को कानूनी मान्यता के साथ व्यक्तिगत व सामुदायिक वन अधिकार प्रदान किए।

इस शोध का उद्देश्य यह समझना है कि आज भी झारखंड के आदिवासी समुदाय वनों पर किस हद तक निर्भर हैं, उन्हें किन प्रकार की प्रशासनिक या नीतिगत बाधाओं का सामना करना पड़ता है, और ऐतिहासिक तथा वर्तमान संघर्ष किस प्रकार उनके अधिकारों को प्रभावित करते हैं।

इसके लिए शोधकर्ता ने प्राथमिक डेटा संग्रहण किया, जिसमें कुल 130 उत्तरदाताओं से प्रत्यक्ष साक्षात्कार एवं प्रश्नावली के माध्यम से जानकारी प्राप्त की गई। प्रश्नों को इस प्रकार विन्यस्त किया गया कि वे आजीविका, नीतिगत प्रभाव, संघर्ष की प्रभावशीलता, अधिनियमों की धारणा और बाहरी हस्तक्षेप (जैसे नक्सलवाद और औद्योगिकीकरण) से जुड़ी सूचनाएँ उपलब्ध करा सकें।

सर्वेक्षण में प्राप्त आंकड़ों से यह स्पष्ट हुआ कि 119 उत्तरदाताओं ने यह माना कि उनका परिवार आजीविका के लिए वनों पर निर्भर है, और इतनी ही संख्या में लोगों ने यह भी स्वीकार किया कि वे स्वतंत्र रूप से वन संसाधनों का उपयोग करते हैं। यह संकेत करता है कि वन आज भी ग्रामीण और आदिवासी जीवन का मूल आधार हैं। लेकिन जब उनसे पूछा गया कि क्या सरकारी नीतियाँ संसाधनों की पहुँच में बाधा उत्पन्न करती हैं, तो 39 उत्तरदाताओं ने "हां" कहा, जबकि 12 ने "कभी-कभी"। यह विभाजन दर्शाता है कि नीतियाँ सभी क्षेत्रों में समान रूप से प्रभावी नहीं हैं और क्रियान्वयन की स्थिति क्षेत्र-विशेष पर निर्भर करती है।

जनजातीय संघर्षों की उपयोगिता को लेकर उत्तरदाताओं की राय अपेक्षाकृत सकारात्मक रही। 80 उत्तरदाताओं ने यह माना कि संघर्षों से वन संसाधनों तक पहुँच सुनिश्चित करने में सहायता मिलती है, जबकि 26 ने "कभी-कभी" उत्तर दिया। इससे यह स्पष्ट होता है कि आदिवासी समुदायों में अपने अधिकारों के लिए संघर्ष की परंपरा आज भी जीवित है और इसे वैध माध्यम के रूप में स्वीकार किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त, जब उनसे पूछा गया कि क्या खनन और औद्योगिकीकरण वनों के दोहन के लिए उचित हैं, तो 104 उत्तरदाताओं ने इसे विकास के लिए आवश्यक माना। यह एक जटिल अंतर्दृष्टि प्रदान करता है जहाँ जनजातीय समुदाय विकास की आवश्यकता को भी स्वीकार करते हैं, किंतु इसके लिए वनों की बलि से वे पूरी तरह सहमत नहीं हैं।

औपनिवेशिक हस्तक्षेप की बात करें तो उत्तरदाता इस विषय पर विभाजित रहे—38 ने इसे नुकसानकारी माना, 38 ने नहीं, और 54 ने "कभी-कभी" उत्तर दिया। यह दर्शाता है कि ऐतिहासिक प्रभावों को लेकर धारणा स्थिर नहीं है। लेकिन जब संघर्षों के मूल उद्देश्य की बात की गई, तो 79 लोगों ने स्पष्ट रूप से माना कि संघर्षों का प्रमुख लक्ष्य भूमि और वन अधिकारों की रक्षा रहा है।

वन अधिकार अधिनियम, 2005 को लेकर प्रतिक्रियाएँ सकारात्मक रहीं। 106 उत्तरदाताओं ने इसे अपने अधिकारों की सुरक्षा के लिए सहायक माना। इसके विपरीत, हाल ही में पारित वन

संरक्षण अधिनियम, 2022 को 56 उत्तरदाताओं ने अधिकारों के लिए खतरा माना, जबकि 48 ने इसे अस्वीकार किया और 26 ने "कभी-कभी" कहा। यह अधिनियम अभी भी सामाजिक विमर्श में है और इसके प्रभाव संदर्भ-सापेक्ष हो सकते हैं।

नक्सलवाद के प्रभाव को लेकर भी उत्तरदाता दो धड़ों में बंटे दिखे। 69 लोगों ने माना कि नक्सलवाद के कारण वन संसाधनों पर निर्भरता में कमी आई है, जो यह दर्शाता है कि सुरक्षा कारणों, हिंसा और प्रशासनिक नियंत्रण के कारण पारंपरिक उपयोग प्रभावित हुआ है।

इस प्रकार, यह अध्ययन दर्शाता है कि झारखंड में वन संघर्ष केवल ऐतिहासिक घटनाएँ नहीं हैं, बल्कि वर्तमान में भी जीवंत और प्रासंगिक हैं। जनजातीय समुदायों के लिए वनों का महत्व आज भी उतना ही है जितना पहले था। संघर्ष, नीति, और बाहरी हस्तक्षेपों के बीच संतुलन स्थापित करना ही सतत और न्यायसंगत विकास की कुंजी है। नीतियाँ तभी प्रभावी होंगी जब वे केवल काग़ज़ों तक सीमित न रहकर ज़मीनी स्तर पर पारदर्शिता, सहभागिता और न्याय के सिद्धांतों पर आधारित हों। यह शोध नीति-निर्माताओं, समाजशास्त्रियों, पर्यावरणविदों और विकास योजनाकारों के लिए उपयोगी मार्गदर्शन प्रदान करता है।

कीवर्ड: वन अधिकार, आदिवासी संघर्ष, नीति प्रभाव, सतत विकास

विषय-वस्तु

अभ्यर्थी की ओर से वचनबद्धता ii

स्व-घोषणा iii

आभार ज्ञापन vii

प्रस्तावना ix

सारांश xi

विषय-वस्तु xiv

चित्रों की सूची xviii

तालिकाओं की सूची xix

अध्याय 1 1

परिचय 1

1.1 औपनिवेशिक शासन के दौरान वन संसाधन 1

1.2 वन अधिकार अधिनियम, 2006 का प्रभाव 2

1.3 समकालीन चुनौतियां 2

1.4 वन संसाधन 3

1.5 औपनिवेशिक शासन के दौरान वनों पर नियंत्रण 3

1.6 स्वतंत्र भारत में वन संसाधन और जनजातीय अधिकार 4

1.6.1 वर्तमान स्थिति और चुनौतियां 4

1.6.2 वन संसाधन को मुख्यतः उनके उपयोग और प्रकृति के आधार पर निम्न प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है | 5

1.7 लकड़ी आधारित संसाधनों का महत्व और संरक्षण 6

1.7.1 लकड़ी आधारित संसाधनों का महत्व 6

1.7.2 लकड़ी आधारित संसाधनों का दोहन और इसके प्रभाव 6

1.7.3 लकड़ी आधारित संसाधनों का संरक्षण 7

1.7.4 इमारती लकड़ी का औद्योगिक और सांस्कृतिक महत्व 9

1.7.5 फर्नीचर निर्माण में लकड़ी का उपयोग और उसका प्रभाव 10

1.7.6 मकान निर्माण और जनजातीय जीवन 11

1.7.7 जलाने की लकड़ी: दैनिक जीवन का आधार 11

1.8 झारखंड के जनजातीय संघर्षों में वन संसाधनों की भूमिका 12

1.8.1 लाह (Lac): वन से प्राप्त प्राकृतिक उत्पाद 13
1.8.2 तेंदू पत्ता: बीड़ी उद्योग का आधार 14
1.8.3 महुआ (Mahua): पारंपरिक और आर्थिक महत्व 14
1.8.4 चिरौंजी और कंद-मूल: भोजन और आय का स्रोत 15
1.8.5 वन औषधियां: पारंपरिक चिकित्सा का आधार 15
1.8.6 रेजिन: पेड़ से प्राप्त मूल्यवान रेजिन 16
1.8.7 गोंद: पारंपरिक उपयोग और वाणिज्यिक महत्व 17
1.8.8 शहद: जैव विविधता और पारंपरिक स्वास्थ्य प्रथाओं का स्रोत 17
1.8.9 वनस्पति (Flora): वनों का प्रमुख जैविक संसाधन 20
1.8.10 वन्यजीव (Fauna): जैव विविधता का स्तंभ 20
1.8.11 मृदा संसाधन (Soil Resources): जैविक विविधता का आधार 21
1.8.12 वनस्पति विविधता 23
1.8.13 जीव विविधता 23
1.8.14 कीट-पतंगे और सूक्ष्म जीव विविधता 24
1.9 जल संसाधन विविधता 24
1.10 जैव विविधता का सामाजिक और आर्थिक महत्व 24
1.11 झारखंड राज्य: भौगोलिक विविधता और प्राकृतिक संसाधन 35
1.11.1 जल स्रोतों का संरक्षण और उपयोग 36
1.11.2 जनजातीय समुदायों के लिए वन संसाधनों का महत्त्व 37
1.11.3 वन संसाधनों की पहुंच के लिए जनजातीय संघर्षों के ऐतिहासिक साक्ष्य. 39
1.12 अध्ययन के उद्देश्य और परिकल्पनाएँ 41
1.12.1 अध्ययन के उद्देश्य 41
1.12.2 परिकल्पनाएँ 42
अध्याय 2 43
साहित्य की समीक्षा 43
2.1 संबंधित साहित्य 44
2.2 समस्या कथन 80
अध्याय 3 81

औपनिवेशिक शासन के खिलाफ वन संसाधनों की पहुंच के लिए जनजातीय संघर्षों के ऐतिहासिक साक्ष्य 81
3.1 आदिवासी जीवनशैली और वनों पर निर्भरता 82
3.2 कोल विद्रोह का उत्पन्न होना 83
3.3 कोल विद्रोह का प्रभाव और आदिवासी अधिकारों की रक्षा 83
3.4 वृहत परिप्रेक्ष्य में कोल विद्रोह 84
3.5 आदिवासी अधिकारों के संरक्षण और कोल विद्रोह की प्रासंगिकता 84
3.5.1 कंडाली संघर्ष (1873-1874) 85
3.5.2 वन संसाधनों पर ब्रिटिश नियंत्रण और आदिवासी समुदायों की समस्या 85
3.5.3 जंगलों पर कर प्रणाली और ब्रिटिश शासन का हस्तक्षेप 85
3.5.4 वाणिज्यिक शोषण और जंगलों पर एकाधिकार 86
3.5.5 भूमि और वनों पर अधिकारों की छीनाझपटी 86
3.5.6 पारंपरिक वन जीवन को खतरा 87
3.5.7 आजादी के बाद भी अधिकारों की बहाली की संघर्षपूर्ण यात्रा 87
3.6 कंडाली संघर्ष का उद्भव और उद्देश्य 87
3.6.1 संगठित प्रतिरोध और संघर्ष की रणनीतियां 88
3.6.2 कंडाली संघर्ष का प्रभाव और इसके नतीजे 88
3.6.3 आधुनिक संदर्भ में कंडाली संघर्ष की प्रासंगिकता 89
3.7 चिपको आंदोलन 89
3.7.1 पृष्ठभूमि 90
3.7.2 झारखंड की भौगोलिक और सामाजिक पृष्ठभूमि 90
3.7.3 वन संसाधनों की प्रचुरता और उनकी आर्थिक और सांस्कृतिक महत्ता 91
3.7.4 औपनिवेशिक शासन के दौरान वन संसाधनों पर ब्रिटिश नियंत्रण 91
3.7.5 कोल विद्रोह और कंडाली संघर्ष: आदिवासी प्रतिरोध 92
3.7.6 वर्तमान परिप्रेक्ष्य में झारखंड 92
3.7.7 आंदोलन 93
3.7.8 स्थायी प्रभाव 94
3.7.9 पर्यावरणीय जागरूकता और संरक्षण का प्रभाव 95
3.7.10 स्थायी वन प्रबंधन और नीति बदलाव 95

3.7.10.1 स्थायी ग्रामीण आजीविका के लिए प्रेरणा 96

3.7.10.2 वैश्विक स्तर पर पर्यावरणीय आंदोलन की प्रेरणा 96

3.7.11 लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं और सहभागिता की शक्ति 97

अध्याय 4 98

औपनिवेशिकोत्तर शासन के खिलाफ वन संसाधनों की पहुंच के लिए जनजातीय संघर्षों के ऐतिहासिक साक्ष्य..98

4.1 कंधमाल आंदोलन (2000 के दशक) 98

4.2 नर्मदा बचाओ आंदोलन (1980 के दशक में) 100

4.3 भूमि अधिकार आंदोलन (1970s-1990s) 101

4.4 प्रमुख संघर्ष.. 102

अध्याय 5 106

झारखंड के संदर्भ में ऐतिहासिक साक्ष्य का आकलन 106

5.1 औपनिवेशिक शासन के खिलाफ वन संसाधनों की पहुंच के लिए जनजातीय संघर्षों के ऐतिहासिक साक्ष्य झारखंड के संदर्भ में 106

5.2 औपनिवेशिकोत्तर शासन के खिलाफ वन संसाधनों की पहुंच के लिए जनजातीय संघर्षों के ऐतिहासिक साक्ष्य झारखंड के संदर्भ में 109

5.3 व्यवस्थित समीक्षा और निष्कर्ष.. 112

अध्याय 6 144

औपनिवेशिक और औपनिवेशिकोत्तर काल के जनजातीय संघर्षों की तुलना (विस्तृत सारणी)... 144

6.1 समानताएँ.. 146

6.2 औपनिवेशिक और औपनिवेशिकोत्तर काल में जनजातीय संघर्षों का स्वरूप और अंतर 147

6.3 निष्कर्ष.. 148

अध्याय 7 149

झारखंड में जनजातीय वन संघर्षों का प्राथमिक डेटा विश्लेषण: सामाजिक, आर्थिक, ऐतिहासिक एवं नीतिगत प्रभावों का समग्र अध्ययन.. 149

अध्याय 8 162

संदर्भ... 164

चित्रों की सूची

चित्र 1: वनों पर आजीविका की निर्भरता से संबंधित उत्तरदाताओं की राय 150
चित्र 2: वन संसाधनों के स्वतंत्र उपयोग पर उत्तरदाताओं की प्रतिक्रिया 151
चित्र 3: सरकारी नीतियों के कारण वन संसाधनों तक पहुँच में बाधाओं पर उत्तरदाताओं की राय 152
चित्र 4: जनजातीय संघर्षों की वन संसाधनों तक पहुँच स्थापित करने में प्रभावशीलता पर उत्तरदाताओं की राय... 153
चित्र 5: खनन और औद्योगिकीकरण के लिए वनों के दोहन को विकास के आवश्यक साधन के रूप में देखने पर उत्तरदाताओं की राय 154
चित्र 6: औपनिवेशिक हस्तक्षेप के कारण जनजातीय आजीविका और पर्यावरणीय संतुलन को हुए नुकसान पर उत्तरदाताओं की राय... 156
चित्र 7: ऐतिहासिक और समकालीन संघर्षों के मूल उद्देश्य—जंगल और भूमि पर अधिकार की रक्षा—पर उत्तरदाताओं की राय.. 157
चित्र 8: वन अधिकार अधिनियम, 2005 द्वारा पारंपरिक वन अधिकारों की मान्यता पर उत्तरदाताओं की राय... 158
चित्र 9: वन संरक्षण अधिनियम, 2022 को आदिवासी और वनाधिकार कानूनों के लिए खतरे के रूप में देखने पर उत्तरदाताओं की राय 159
चित्र 10: नक्सलवाद के प्रभाव से वन संसाधनों पर जनजातीय निर्भरता में कमी पर उत्तरदाताओं की राय.. 160

<u>तालिकाओं की सूची</u>

तालिका 6.1 : औपनिवेशिक एवं औपनिवेशिकोत्तर काल की तुलना................................144

अध्याय 1
परिचय

झारखंड क्षेत्र का इतिहास जनजातीय समाज और उनके वन संसाधनों पर निर्भरता की अनगिनत कहानियों से भरा हुआ है। औपनिवेशिक काल में वन संसाधनों पर ब्रिटिश हुकूमत ने कब्जा करके वहां की जनजातीय आत्मनिर्भरता को चुनौती दी। यह केवल एक आर्थिक मुद्दा नहीं था, बल्कि उनकी सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक परंपराओं पर भी गंभीर प्रभाव डालने वाला मुद्दा था। औपनिवेशिक काल के बाद भी वन संसाधनों पर नियंत्रण के संघर्ष समाप्त नहीं हुए। यह लेख झारखंड में वन संसाधनों के संदर्भ में जनजातीय संघर्षों का विश्लेषण करता है।

1.1 औपनिवेशिक शासन के दौरान वन संसाधन

ब्रिटिश शासन से पहले जनजातीय समुदाय जंगलों को अपने जीवन का अभिन्न अंग मानते थे। जंगलों से उन्हें भोजन, औषधियां, जलावन की लकड़ी और निर्माण सामग्री प्राप्त होती थी। साथ ही, यह उनकी सांस्कृतिक और धार्मिक गतिविधियों का केंद्र भी था। ब्रिटिश सरकार ने भारतीय वन अधिनियम, 1865 और 1878 के माध्यम से वन संसाधनों पर अपना नियंत्रण स्थापित किया। इन कानूनों ने वनों को "राज्य की संपत्ति" घोषित कर दिया। इससे आदिवासियों का वन परंपरागत अधिकार समाप्त हो गया। अंग्रेजों ने वनों को लकड़ी, खासकर सागौन और साल की लकड़ी, के व्यावसायिक दोहन के लिए आरक्षित कर दिया। इससे आदिवासियों को जंगल में घुसने, खेती करने और लकड़ी या जंगल उत्पादों को इकट्ठा करने से रोका गया।
वन अधिनियमों के खिलाफ संथाल, मुंडा, हो और उरांव जैसे समुदायों ने कई विद्रोह किए। बिरसा मुंडा के नेतृत्व में हुए *उलगुलान* (1899-1900) में वन अधिकारों और आदिवासी स्वायत्तता के मुद्दे प्रमुख थे।

औपनिवेशिकोत्तर शासन में वन संसाधन

स्वतंत्रता के बाद भी झारखंड में जनजातीय समुदायों के लिए स्थिति में बहुत सुधार नहीं हुआ। भारतीय वन अधिनियम, 1927 को स्वतंत्र भारत में जारी रखा गया। इसके तहत वनों का प्रबंधन केंद्र सरकार और राज्य सरकारों के अधीन रहा। औद्योगिकीकरण और शहरीकरण के बढ़ते दौर में वनों को खनन, बांध परियोजनाओं और बड़े उद्योगों के लिए साफ किया जाने लगा। यहां

का आदिवासी समाज इस नए प्रकार के वन दमन से प्रभावित हुआ। खदानों और बांधों की वजह से उन्हें उनके मूल स्थान से विस्थापित किया गया। *कोयल-कारो आंदोलन* और *नेतरहाट फील्ड फायरिंग रेंज आंदोलन* जैसे संघर्ष इसी संदर्भ में हुए, जहां आदिवासियों ने वन संरक्षण और अपने अधिकारों के लिए लड़ाई लड़ी।

1.2 वन अधिकार अधिनियम, 2006 का प्रभाव

2006 में भारत सरकार ने अनुसूचित जनजाति और अन्य पारंपरिक वन निवासियों को उनके अधिकार प्रदान करने के उद्देश्य से वन अधिकार अधिनियम पारित किया। इस अधिनियम ने आदिवासियों को उनके परंपरागत अधिकारों को पुनः स्थापित करने की कानूनी मान्यता दी। झारखंड में इस अधिनियम का प्रभाव सीमित रहा है। भूमि रिकॉर्ड और प्रक्रिया की जटिलताओं के कारण अधिकांश आदिवासियों को अभी भी उनके अधिकार नहीं मिल पाए हैं।

1.3 समकालीन चुनौतियां

आज झारखंड में वन संसाधनों पर अधिकार की लड़ाई नई चुनौतियों का सामना कर रही है। खनन और उद्योगों के लिए जंगलों का सफाया जारी है। वनों की कटाई, जलवायु परिवर्तन, और विस्थापन जैसी समस्याएं बढ़ती जा रही हैं। दूसरी ओर, आदिवासी युवा अब शिक्षा और रोजगार के नए अवसरों की तलाश में जंगल से परे जाने लगे हैं। हालांकि, कई गैर-सरकारी संगठनों और सामाजिक कार्यकर्ताओं ने स्थानीय समुदायों के अधिकारों को बहाल करने की दिशा में काम किया है। *पत्थलगड़ी आंदोलन* जैसे प्रयासों ने वन अधिकारों की बहस को राष्ट्रीय स्तर पर जगह दी है। झारखंड के जनजातीय समुदायों और वन संसाधनों के बीच का संबंध केवल आर्थिक निर्भरता तक सीमित नहीं है। यह उनकी सांस्कृतिक पहचान, सामाजिक संरचना और धार्मिक विश्वासों का आधार भी है। औपनिवेशिक और औपनिवेशिकोत्तर शासन में इन अधिकारों को चुनौती दी गई, जिससे संघर्षों की एक लंबी श्रृंखला पैदा हुई। आज आवश्यकता है कि वन संसाधनों के प्रति उनकी परंपरागत पहुंच को सम्मान दिया जाए और उनके अधिकारों की सुरक्षा सुनिश्चित की जाए। इससे न केवल उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति में सुधार होगा, बल्कि पर्यावरणीय संतुलन भी बहाल होगा।

1.4 वन संसाधन

वन संसाधन पृथ्वी के सबसे महत्वपूर्ण प्राकृतिक संसाधनों में से एक हैं, जो मानव और अन्य जीवों की आर्थिक, सांस्कृतिक, और पर्यावरणीय आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। इनमें लकड़ी, जड़ी-बूटियां, रबर, शहद, फाइबर, वन्य उत्पाद, और जल स्रोत शामिल हैं। आदिकाल से ही मानव सभ्यता वनों पर निर्भर रही है। खासतौर पर जनजातीय समुदायों के लिए, वनों का महत्व केवल आर्थिक संसाधन तक सीमित नहीं है, बल्कि यह उनकी सांस्कृतिक और सामाजिक पहचान का अभिन्न हिस्सा है।

वन संसाधनों का उपयोग मुख्य रूप से निम्नलिखित कार्यों के लिए किया जाता है:

i) **आर्थिक उपयोग:** लकड़ी, बांस, और रेजिन जैसे उत्पाद व्यापारिक उद्देश्यों के लिए महत्वपूर्ण हैं।
ii) **औषधीय उपयोग:** वनों में उपलब्ध जड़ी-बूटियां आयुर्वेद और प्राकृतिक चिकित्सा के लिए उपयोग की जाती हैं।
iii) **पारिस्थितिक संतुलन:** वन पारिस्थितिकी तंत्र का संतुलन बनाए रखते हैं। वे जलवायु को नियंत्रित करने, कार्बन डाइऑक्साइड को अवशोषित करने, और ऑक्सीजन प्रदान करने में सहायक हैं।
iv) **जीवन यापन का साधन:** आदिवासी समुदायों के लिए, वनों से मिलने वाले उत्पाद उनकी आजीविका का प्रमुख स्रोत हैं।

1.5 औपनिवेशिक शासन के दौरान वनों पर नियंत्रण

ब्रिटिश शासन के दौरान वनों को 'राज्य की संपत्ति' घोषित किया गया और उनका व्यावसायिक दोहन शुरू हुआ। भारतीय वन अधिनियम, 1865 और 1878 के तहत वनों पर जनजातीय समुदायों के परंपरागत अधिकार समाप्त कर दिए गए। अंग्रेजों ने रेलवे की पटरियां बिछाने, इमारतों के निर्माण, और व्यापार के लिए लकड़ी का बड़े पैमाने पर दोहन किया। इसका विरोध करते हुए जनजातीय समुदायों ने कई विद्रोह किए। बिरसा मुंडा का *उलगुलान* (1899-1900) एक ऐसा ही आंदोलन था, जो वनों पर अधिकार और जनजातीय स्वायत्तता की मांग करता था।

1.6 स्वतंत्र भारत में वन संसाधन और जनजातीय अधिकार

स्वतंत्रता के बाद, वन संसाधनों के प्रबंधन की जिम्मेदारी केंद्र और राज्य सरकारों को सौंप दी गई। भारतीय वन अधिनियम, 1927 को संशोधित किए बिना लागू किया गया, जिससे जनजातीय समुदायों के अधिकारों को पुनः मान्यता नहीं मिल सकी। औद्योगिकीकरण और खनन परियोजनाओं के कारण वनों का बड़े पैमाने पर कटाव हुआ, जिससे आदिवासियों को विस्थापन का सामना करना पड़ा।

वन अधिकार अधिनियम, 2006: 2006 में भारतीय सरकार ने वन अधिकार अधिनियम लागू किया, जिसका उद्देश्य जनजातीय समुदायों और अन्य पारंपरिक वन निवासियों को उनके परंपरागत वन अधिकार लौटाना था। इस अधिनियम के तहत जनजातीय समुदायों को वनों का स्वामित्व, कृषि भूमि का उपयोग, और गैर-काष्ठ वन उत्पादों पर अधिकार प्रदान किया गया। हालांकि, झारखंड जैसे राज्यों में इस अधिनियम का प्रभाव सीमित रहा है।

1.6.1 वर्तमान स्थिति और चुनौतियां

आज वन संसाधन निम्नलिखित चुनौतियों का सामना कर रहे हैं:

i) **खनन और औद्योगिकीकरण:** खनिज संपन्न क्षेत्रों में खनन गतिविधियों के कारण वनों का तेजी से क्षरण हो रहा है।
ii) **विस्थापन:** औद्योगिक और बुनियादी ढांचा परियोजनाओं के लिए आदिवासियों को अपने स्थानों से विस्थापित किया जा रहा है।
iii) **जलवायु परिवर्तन:** वनों की कटाई से जलवायु परिवर्तन और पर्यावरणीय असंतुलन की समस्याएं बढ़ रही हैं।
iv) **वन संरक्षण बनाम जनजातीय अधिकार:** वनों के संरक्षण और आदिवासियों के अधिकारों के बीच संतुलन बनाना एक प्रमुख चुनौती है।

वन संसाधन केवल पर्यावरणीय संरचना का हिस्सा नहीं हैं, बल्कि आदिवासी समाज के जीवन, संस्कृति और अस्तित्व का आधार हैं। वनों के संरक्षण और उपयोग के बीच एक संतुलन बनाना आवश्यक है। सरकार, स्थानीय समुदाय और गैर-सरकारी संगठनों को मिलकर ऐसे प्रयास करने

होंगे, जो वनों की रक्षा के साथ-साथ आदिवासियों के अधिकारों और उनकी परंपराओं को भी संरक्षित करें। इससे न केवल पर्यावरणीय स्थिरता सुनिश्चित होगी, बल्कि जनजातीय समाज की समृद्धि भी बढ़ेगी।

1.6.2 वन संसाधन को मुख्यतः उनके उपयोग और प्रकृति के आधार पर निम्न प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है |

लकड़ी आधारित संसाधन: लकड़ी आधारित संसाधन वनों से प्राप्त सबसे महत्वपूर्ण और उपयोगी संसाधनों में से एक हैं, जो विभिन्न उद्देश्यों के लिए व्यापक रूप से उपयोग किए जाते हैं। इनमें इमारती लकड़ी जैसे सागौन (Teak), साल (Sal), शीशम (Rosewood), देवदार (Deodar) और चंदन (Sandalwood) प्रमुख हैं, जिनका उपयोग भवन निर्माण, फर्नीचर, पुल, खिड़की-दरवाजों और जहाज निर्माण में किया जाता है। इसके अलावा, जलाने की लकड़ी ग्रामीण क्षेत्रों और आदिवासी इलाकों में ऊर्जा का मुख्य स्रोत है। लकड़ी आधारित संसाधनों का औद्योगिक उपयोग भी व्यापक है, जैसे कि कागज और गत्ता निर्माण में लकड़ी के गूदे का उपयोग। कुछ विशेष लकड़ियाँ, जैसे बांस और गोंद निकालने वाली प्रजातियाँ, आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। लकड़ी का अत्यधिक उपयोग करने से वनों की कटाई (Deforestation) और पर्यावरणीय असंतुलन की समस्या बढ़ सकती है। इसलिए, इन संसाधनों का सतत और टिकाऊ प्रबंधन, जैसे वनीकरण (Afforestation) और पुनर्वनीकरण (Reforestation), आवश्यक है ताकि आने वाली पीढ़ियों के लिए इनका संरक्षण किया जा सके। लकड़ी आधारित संसाधन न केवल आर्थिक विकास में योगदान देते हैं, बल्कि पर्यावरणीय संतुलन बनाए रखने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

लकड़ी आधारित संसाधन प्रकृति द्वारा प्रदान किए गए सबसे बहुमूल्य संसाधनों में से एक हैं। प्राचीन काल से ही मानव सभ्यता लकड़ी का उपयोग विभिन्न उद्देश्यों के लिए करती आई है। घरों और भवनों के निर्माण से लेकर औद्योगिक उत्पादन और कला-संस्कृति तक, लकड़ी का उपयोग बहुआयामी है। वनों से प्राप्त लकड़ी का सही प्रबंधन और उपयोग न केवल आर्थिक विकास में सहायक है, बल्कि पर्यावरणीय स्थिरता बनाए रखने के लिए भी आवश्यक है।

1.7 लकड़ी आधारित संसाधनों का महत्व और संरक्षण

1.7.1 लकड़ी आधारित संसाधनों का महत्व

i) **आवास और निर्माण:** लकड़ी भवन निर्माण में एक प्रमुख सामग्री है। परंपरागत घरों से लेकर आधुनिक इमारतों तक, लकड़ी का उपयोग दरवाजे, खिड़कियां, फर्श, और छतों के निर्माण में होता है। ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी झोपड़ियों और कच्चे घरों में लकड़ी का व्यापक उपयोग होता है।

ii) **फर्नीचर और सजावट:** लकड़ी का उपयोग फर्नीचर बनाने में किया जाता है, जैसे कि कुर्सियां, मेज, अलमारी, और बिस्तर। साथ ही, लकड़ी की मूर्तियां और कलाकृतियां सजावट के लिए उपयोग की जाती हैं, जो इसकी कलात्मकता और टिकाऊपन को दर्शाती हैं।

iii) **औद्योगिक उपयोग:** लकड़ी से कागज, प्लाईवुड, माचिस, और खिलौने जैसे उत्पाद बनाए जाते हैं। रबर और अन्य पदार्थों का उत्पादन भी वनों से प्राप्त लकड़ी से संभव है।

iv) **ऊर्जा स्रोत:** ग्रामीण क्षेत्रों में लकड़ी आज भी प्रमुख ईंधन का स्रोत है। खाना पकाने और गर्मी के लिए लकड़ी का उपयोग व्यापक रूप से किया जाता है।

v) **पारिस्थितिक महत्व:** लकड़ी आधारित संसाधन वनों का हिस्सा हैं, जो जैव विविधता को बनाए रखते हैं। वनों में लकड़ी के साथ-साथ जड़ी-बूटियां, फल, और अन्य उत्पाद भी मिलते हैं, जो पर्यावरणीय संतुलन बनाए रखते हैं।

1.7.2 लकड़ी आधारित संसाधनों का दोहन और इसके प्रभाव

औद्योगिकीकरण और बढ़ती जनसंख्या के कारण लकड़ी आधारित संसाधनों का अत्यधिक दोहन हो रहा है। वनों की अंधाधुंध कटाई से कई समस्याएं उत्पन्न हुई हैं, जैसे:

i) **वनों का क्षरण:** लकड़ी की अत्यधिक कटाई के कारण वनों का क्षेत्रफल कम हो रहा है। इससे जैव विविधता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।

ii) **जलवायु परिवर्तन:** पेड़ कार्बन डाइऑक्साइड को अवशोषित करके ऑक्सीजन प्रदान करते हैं। वनों की कटाई से यह प्राकृतिक प्रक्रिया बाधित होती है, जिससे जलवायु परिवर्तन की समस्या बढ़ती है।

iii) **मृदा अपरदन:** वनों के कटने से मिट्टी का कटाव बढ़ता है। पेड़ जड़ों के माध्यम से मिट्टी को बांधकर रखते हैं, लेकिन वनों के नष्ट होने पर मिट्टी बंजर हो जाती है।
iv) **पारिस्थितिक असंतुलन:** वनों के विनाश से वन्यजीवों का प्राकृतिक आवास समाप्त हो जाता है, जिससे उनकी संख्या में कमी आती है।
v) **आदिवासी समुदायों पर प्रभाव:** जंगलों पर निर्भर रहने वाले जनजातीय समुदायों के लिए वनों की कटाई उनकी आजीविका और सांस्कृतिक अस्तित्व को खतरे में डालती है।

1.7.3 लकड़ी आधारित संसाधनों का संरक्षण

लकड़ी आधारित संसाधनों का संरक्षण और सतत उपयोग आज की आवश्यकता है। इसके लिए निम्नलिखित उपाय किए जा सकते हैं:

i) **पुनः वनीकरण और वृक्षारोपण:** जो क्षेत्र वनों की कटाई से प्रभावित हुए हैं, वहां पुनः वनीकरण करके नए पेड़ लगाए जाने चाहिए। यह प्रक्रिया पारिस्थितिक संतुलन बहाल करने में सहायक होगी।
ii) **टिकाऊ वानिकी:** वनों का उपयोग इस तरह से किया जाना चाहिए कि उनकी पुनः वृद्धि हो सके। टिकाऊ वानिकी के तहत केवल उतनी लकड़ी काटी जाए जितनी प्राकृतिक रूप से पुनः उत्पन्न हो सके।
iii) **आधुनिक तकनीकों का उपयोग:** लकड़ी आधारित उद्योगों में ऐसी तकनीकों का उपयोग किया जाना चाहिए, जो वनों पर कम निर्भरता सुनिश्चित करें। कागज और प्लाईवुड निर्माण में पुनर्नवीनीकरण सामग्री का उपयोग एक अच्छा विकल्प है।
iv) **वैकल्पिक ईंधन का उपयोग:** ग्रामीण क्षेत्रों में लकड़ी के ईंधन के बजाय सौर ऊर्जा, बायोगैस, और अन्य पर्यावरणीय विकल्पों को बढ़ावा दिया जाना चाहिए।
v) **सख्त कानून और नीतियां:** वनों की अवैध कटाई रोकने के लिए कड़े कानूनों का निर्माण और उनके प्रभावी क्रियान्वयन की आवश्यकता है। वन संरक्षण अधिनियम जैसे कानूनों को मजबूत बनाना चाहिए।
vi) **समुदाय आधारित संरक्षण:** स्थानीय समुदायों को वनों के संरक्षण में शामिल किया जाना चाहिए। उनके परंपरागत ज्ञान और अनुभव का उपयोग वन प्रबंधन में किया जा सकता है।

लकड़ी आधारित संसाधन मानव जीवन का अभिन्न हिस्सा हैं। इनका उपयोग निर्माण, उद्योग, और पारिस्थितिक संतुलन बनाए रखने के लिए अनिवार्य है। हालांकि, अंधाधुंध कटाई और दोहन से पर्यावरणीय संकट उत्पन्न हो रहा है। इसलिए, इन संसाधनों का टिकाऊ उपयोग और संरक्षण आवश्यक है। सरकार, उद्योग, और आम जनता को मिलकर यह सुनिश्चित करना होगा कि लकड़ी आधारित संसाधन भविष्य में भी उपलब्ध रहें और उनका उपयोग पर्यावरणीय संतुलन को बनाए रखते हुए किया जाए। इससे न केवल पर्यावरण संरक्षित होगा, बल्कि समाज और अर्थव्यवस्था को भी लाभ मिलेगा।

- **इमारती लकड़ी (Teak, Sal, Sandalwood आदि):** इमारती लकड़ी वनों से प्राप्त एक बहुमूल्य संसाधन है, जिसका उपयोग मुख्यतः निर्माण कार्यों और फर्नीचर के लिए किया जाता है। सागौन (Teak) अपनी मजबूती और जल प्रतिरोधी गुणों के कारण भवन निर्माण, फर्श और जहाज बनाने में उपयोगी है। साल (Sal) अत्यंत टिकाऊ और कठोर लकड़ी है, जिसे पुल, रेलवे स्लीपर और भारी निर्माण कार्यों में इस्तेमाल किया जाता है। चंदन (Sandalwood) अपनी सुगंध और नक्काशी के लिए प्रसिद्ध है, और इसका उपयोग मूर्तियों, सजावटी वस्तुओं तथा सुगंधित तेल बनाने में किया जाता है। ये लकड़ियाँ न केवल आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं, बल्कि उनका पारिस्थितिकीय महत्व भी है क्योंकि वे वनों की जैव विविधता और पारिस्थितिकी तंत्र को संतुलित बनाए रखने में सहायक होती हैं। बढ़ती मांग के कारण इन लकड़ियों का संरक्षण और टिकाऊ उपयोग आवश्यक है ताकि भविष्य में इनकी उपलब्धता बनी रहे। इमारती लकड़ी, वनों से प्राप्त सबसे मूल्यवान और बहुउपयोगी प्राकृतिक संसाधनों में से एक है। इसमें *टीक (सागौन), साल (शोरिया रोबस्टा), चंदन (सैंडलवुड)* और अन्य प्रजातियां शामिल हैं। ये अपनी टिकाऊपन, सुंदरता और व्यापक उपयोग के लिए प्रसिद्ध हैं। इमारती लकड़ी न केवल आर्थिक विकास में सहायक है, बल्कि इसका सांस्कृतिक, औद्योगिक और पर्यावरणीय महत्व भी है।

- **टीक (Teak): टिकाऊ और बहुमूल्य लकड़ी:** टीक, जिसे सागौन भी कहते हैं, सबसे प्रसिद्ध और प्राचीन इमारती लकड़ियों में से एक है। इसकी लकड़ी सुनहरे भूरें रंग की होती है और इसमें प्राकृतिक तेल पाया जाता है, जो इसे दीमक और फफूंदी से सुरक्षित रखता है। टीक का उपयोग भवन निर्माण, जहाज निर्माण और फर्नीचर के लिए होता है।

बाहरी निर्माण में इसकी मजबूती और जलवायु प्रतिरोधी गुण इसे एक पसंदीदा विकल्प बनाते हैं। हालांकि, टीक के वनों की अत्यधिक कटाई इसके संरक्षण की चुनौती है। टिकाऊ वानिकी और वृक्षारोपण इसके संरक्षण के लिए महत्वपूर्ण हैं।

- **साल (Sal): भारी और मजबूत लकड़ी:** साल, भारत में प्रचुर मात्रा में पाई जाने वाली इमारती लकड़ी है। यह अपनी कठोरता और टिकाऊपन के लिए जानी जाती है। साल का उपयोग भवन निर्माण, रेलवे स्लीपर और फर्नीचर बनाने में किया जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में साल की लकड़ी झोपड़ियों और घरों के निर्माण में उपयोगी होती है। हालांकि, साल वनों पर औद्योगिक और कृषि विस्तार के कारण खतरा मंडरा रहा है। इसे बचाने के लिए पुनः वनीकरण और वन प्रबंधन की आवश्यकता है।

- **चंदन (Sandalwood): सुगंधित और मूल्यवान लकड़ी:** चंदन, अपनी अनूठी सुगंध और औषधीय गुणों के लिए प्रसिद्ध है। इसकी लकड़ी पीले रंग की और चिकनी होती है। चंदन का उपयोग मूर्तियों, धूपबत्तियों और धार्मिक अनुष्ठानों में होता है। साथ ही, इसके तेल का उपयोग सुगंधित उत्पादों और औषधियों में किया जाता है। हालांकि, चंदन के पेड़ों का अवैध कटाव और चोरी गंभीर समस्या है। इसके संरक्षण के लिए सख्त कानून और वृक्षारोपण की जरूरत है।

1.7.4 इमारती लकड़ी का औद्योगिक और सांस्कृतिक महत्व

इमारती लकड़ी का औद्योगिक उपयोग व्यापक है। इसका उपयोग घर, पुल, फर्नीचर और सजावटी वस्तुएं बनाने में होता है। प्लाईवुड और कागज उद्योग में भी इसका महत्व है। इसके साथ ही, चंदन जैसी लकड़ी धार्मिक और सांस्कृतिक परंपराओं का अभिन्न हिस्सा है।

- **संरक्षण की आवश्यकता:** इमारती लकड़ी जैसे संसाधनों का संरक्षण आवश्यक है। इसके लिए पुनः वनीकरण और टिकाऊ प्रबंधन नीतियां अपनानी चाहिए। वनों की अवैध कटाई रोकने के लिए सख्त कानूनों का पालन करना चाहिए। इसके अलावा, आम जनता और स्थानीय समुदायों को वनों और इमारती लकड़ी के महत्व के प्रति जागरूक करना भी जरूरी है। इमारती लकड़ी जैसे टीक, साल और चंदन पर्यावरण, अर्थव्यवस्था और समाज के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। इनका सतत प्रबंधन और संरक्षण न केवल

पर्यावरणीय स्थिरता को बनाए रखेगा, बल्कि भावी पीढ़ियों के लिए इन संसाधनों को संरक्षित भी करेगा। इसके लिए सरकार, उद्योग और स्थानीय समुदायों को मिलकर प्रयास करने की आवश्यकता है।

- **फर्नीचर निर्माण, मकान निर्माण और जलाने की लकड़ी:** फर्नीचर निर्माण, मकान निर्माण और जलाने की लकड़ी वनों से प्राप्त महत्वपूर्ण संसाधन हैं, जो हमारे दैनिक जीवन में बड़ी भूमिका निभाते हैं। फर्नीचर निर्माण के लिए मजबूत और टिकाऊ लकड़ियाँ जैसे सागौन (Teak), शीशम (Rosewood), और साल (Sal) मुख्य रूप से उपयोग की जाती हैं, क्योंकि वे दीर्घकालिक उपयोग और सुंदरता प्रदान करती हैं। मकान निर्माण में लकड़ी का उपयोग दरवाजों, खिड़कियों, फर्श और छत के बीम के रूप में किया जाता है, जहां इसकी मजबूती और तापमान विनियमन करने की क्षमता महत्वपूर्ण होती है। ग्रामीण और आदिवासी क्षेत्रों में जलाने की लकड़ी, विशेष रूप से सूखी लकड़ी और टहनियाँ, ऊर्जा का प्राथमिक स्रोत है और खाना पकाने व गर्मी प्रदान करने के लिए उपयोग की जाती है। बढ़ती मांग के साथ लकड़ी के उपयोग का सतत और टिकाऊ प्रबंधन आवश्यक है, ताकि पर्यावरणीय संतुलन बनाए रखते हुए इन संसाधनों की दीर्घकालिक उपलब्धता सुनिश्चित की जा सके।

झारखंड के वनों से प्राप्त संसाधनों का उपयोग पारंपरिक रूप से स्थानीय समुदायों और विशेष रूप से जनजातीय समाजों द्वारा उनकी आजीविका और जीवनशैली बनाए रखने के लिए किया जाता रहा है। इनमें प्रमुख रूप से *फर्नीचर निर्माण, मकान निर्माण* और *जलाने की लकड़ी* जैसे उपयोग शामिल हैं। औपनिवेशिक और औपनिवेशिकोत्तर शासनकाल में इन संसाधनों की पहुंच में आए बदलावों ने जनजातीय समाज के जीवन पर गहरा प्रभाव डाला, जो संघर्षों और आंदोलनों का कारण बने।

1.7.5 फर्नीचर निर्माण में लकड़ी का उपयोग और उसका प्रभाव

झारखंड के वनों से मिलने वाली लकड़ी का उपयोग फर्नीचर निर्माण के लिए होता रहा है। विशेष रूप से *साल, टीक* और *महुआ* जैसे पेड़ों की लकड़ी, फर्नीचर निर्माण के लिए उपयुक्त मानी जाती है। जनजातीय समाज में यह लकड़ी स्थानीय कारीगरों के माध्यम से कुर्सी, मेज, चारपाई, और अन्य उपयोगी वस्तुएं बनाने में काम आती थी।

- **औपनिवेशिक हस्तक्षेप:** ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के दौरान, इन लकड़ियों का वाणिज्यिक दोहन शुरू हुआ। बड़े पैमाने पर लकड़ी काटकर रेलवे स्लीपर, जहाज, और यूरोपीय बाजारों में फर्नीचर निर्यात किया गया। इसके कारण जनजातीय समुदायों के लिए लकड़ी की उपलब्धता कम हो गई और उनकी आजीविका संकट में आ गई।

- **संघर्ष की शुरुआत:** लकड़ी की कटाई और वन क्षेत्रों में बाहरी हस्तक्षेप के खिलाफ स्थानीय जनजातियों ने विरोध प्रदर्शन किए। फर्नीचर निर्माण की पारंपरिक कला को बचाने के लिए संघर्ष झारखंड के जनजातीय आंदोलनों का हिस्सा बना।

1.7.6 मकान निर्माण और जनजातीय जीवन

जनजातीय समाज में लकड़ी का सबसे महत्वपूर्ण उपयोग मकान निर्माण में होता है। मकानों की दीवारें, छत और अन्य संरचनात्मक भाग स्थानीय रूप से उपलब्ध लकड़ी से बनाए जाते हैं। *साल* और *बांस* जैसी लकड़ियां इन मकानों को मजबूत और पर्यावरण के अनुकूल बनाती हैं।

- **औपनिवेशिक युग के प्रभाव:** औपनिवेशिक शासन के दौरान, वनों को संरक्षित करने और वाणिज्यिक उद्देश्यों के लिए आरक्षित किया गया। इसने जनजातियों को उनके पारंपरिक आवास निर्माण के लिए आवश्यक लकड़ी से वंचित कर दिया। इसके परिणामस्वरूप जनजातीय समाज को कठिनाई का सामना करना पड़ा।

- **औपनिवेशिक पश्चात काल:** स्वतंत्रता के बाद, हालांकि वन संरक्षण अधिनियम और अन्य नीतियां लागू की गईं, लेकिन लकड़ी पर सरकारी नियंत्रण ने स्थानीय समुदायों के लिए इसे प्राप्त करना मुश्किल बना दिया। इसके चलते मकान निर्माण के पारंपरिक तरीकों में कमी आई और जनजातीय संघर्ष बढ़े।

1.7.7 जलाने की लकड़ी: दैनिक जीवन का आधार

जलाने की लकड़ी, जनजातीय समाज के लिए ऊर्जा का मुख्य स्रोत है। खाना पकाने, घर को गर्म रखने, और पारंपरिक अनुष्ठानों में इसका उपयोग होता है। *साल, महुआ,* और *पलाश* जैसी लकड़ियां आमतौर पर जलाने के लिए उपयोग की जाती हैं।

- **औपनिवेशिक नीति और प्रभाव:** ब्रिटिश शासन के दौरान वनों पर अधिकार स्थापित करने और वाणिज्यिक लाभ के लिए बड़ी मात्रा में लकड़ी का दोहन किया गया। इसने स्थानीय समुदायों के लिए जलाने की लकड़ी की उपलब्धता को सीमित कर दिया। जनजातीय समाज को इस बुनियादी आवश्यकता के लिए भी संघर्ष करना पड़ा।

- **औपनिवेशिकोत्तर शासन और संघर्ष:** वन संरक्षण नीतियों और औद्योगिक विस्तार ने जलाने की लकड़ी पर जनजातीय समाज की पहुंच को और भी सीमित कर दिया। इसके कारण जनजातीय लोगों ने वनों तक अपनी पारंपरिक पहुंच की बहाली के लिए आंदोलनों की शुरुआत की।

1.8 झारखंड के जनजातीय संघर्षों में वन संसाधनों की भूमिका

फर्नीचर निर्माण, मकान निर्माण और जलाने की लकड़ी जैसे आवश्यकताओं के लिए वनों पर जनजातीय समाज की निर्भरता ऐतिहासिक रूप से स्पष्ट रही है। औपनिवेशिक शासन के दौरान वनों पर बाहरी नियंत्रण और लकड़ी के वाणिज्यिक दोहन ने उनकी आजीविका पर गंभीर प्रभाव डाला। स्वतंत्रता के बाद भी, वन अधिकार अधिनियम और सरकारी नीतियां उनके लिए पूरी तरह से लाभकारी साबित नहीं हुईं। झारखंड में बिरसा मुंडा और अन्य जनजातीय नेताओं के नेतृत्व में हुए आंदोलनों ने वन संसाधनों पर पारंपरिक अधिकारों की बहाली की मांग को लेकर जोर दिया। आज भी, जनजातीय संघर्ष वनों के सतत प्रबंधन और वन संसाधनों की उपलब्धता के इर्द-गिर्द घूमते हैं।

फर्नीचर निर्माण, मकान निर्माण, और जलाने की लकड़ी जैसे वन संसाधन झारखंड के जनजातीय समाज की आजीविका और सांस्कृतिक जीवन का अभिन्न हिस्सा रहे हैं। औपनिवेशिक और औपनिवेशिकोत्तर शासन के दौरान वनों पर बाहरी नियंत्रण और संसाधनों की कमी ने इन समुदायों को उनके अधिकारों के लिए संघर्ष करने पर मजबूर किया। इन संघर्षों ने न केवल उनके पारंपरिक अधिकारों की बहाली की मांग को आगे बढ़ाया, बल्कि वनों के सतत प्रबंधन और संरक्षण की आवश्यकता को भी रेखांकित किया।

गैर-लकड़ी आधारित संसाधन (Non-Timber Forest Resources): गैर-लकड़ी आधारित संसाधन (Non-Timber Forest Resources या NTFPs) वनों से प्राप्त ऐसे उत्पाद हैं जो लकड़ी के अतिरिक्त अन्य आर्थिक और पारिस्थितिकीय लाभ प्रदान करते हैं। इनमें बांस, बेंत, रेजिन, गोंद, रबर, शहद, औषधीय पौधे, जड़ी-बूटियां, फल, फूल और तेंदू पत्ते शामिल हैं। बांस और बेंत का उपयोग फर्नीचर, हस्तशिल्प और कागज उद्योग में होता है, जबकि रेजिन और गोंद पेंट, वार्निश और पैकिंग उद्योग में महत्वपूर्ण हैं। तेंदू पत्तों का उपयोग बीड़ी बनाने में होता है, जो कई आदिवासी और ग्रामीण समुदायों की आजीविका का आधार है। औषधीय पौधे, जैसे आंवला और नीम, पारंपरिक और आधुनिक चिकित्सा में उपयोगी हैं। शहद और मोम स्थानीय खपत और व्यापार में भूमिका निभाते हैं। ये संसाधन न केवल लाखों लोगों को आजीविका प्रदान करते हैं, बल्कि वनों की जैव विविधता और पारिस्थितिकी को संरक्षित रखते हैं, जिससे इनके टिकाऊ प्रबंधन और संरक्षण की आवश्यकता बढ़ जाती है।

गैर-लकड़ी आधारित वन संसाधन (Non-Timber Forest Products, NTFPs) झारखंड के वनों का एक महत्वपूर्ण हिस्सा हैं, जो जनजातीय समुदायों की आजीविका और सांस्कृतिक पहचान के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। ये संसाधन वाणिज्यिक, औद्योगिक, औषधीय और पारंपरिक उपयोगों के लिए व्यापक रूप से प्रयोग में लाए जाते हैं। इनमें मुख्य रूप से *लाह, तेंदू पत्ता, महुआ, चिरौंजी, कंद-मूल,* और *वन औषधियां* शामिल हैं। औपनिवेशिक और औपनिवेशिकोत्तर काल में इन संसाधनों पर नियंत्रण और दोहन ने जनजातीय समाजों के अधिकारों को बाधित किया और संघर्षों को जन्म दिया।

1.8.1 लाह (Lac): वन से प्राप्त प्राकृतिक उत्पाद

लाह, जो पेड़ों से प्राप्त एक प्राकृतिक रेजिन है, झारखंड के वनों का एक महत्वपूर्ण संसाधन है। इसका उपयोग लाख की चूड़ियां, पॉलिश, और अन्य सजावटी वस्तुएं बनाने में किया जाता है। लाह का व्यापार जनजातीय समाज के लिए आय का प्रमुख स्रोत है।

- **औपनिवेशिक काल का प्रभाव:** ब्रिटिश शासन के दौरान लाह का बड़े पैमाने पर वाणिज्यिक उत्पादन और निर्यात किया गया। इस प्रक्रिया में जनजातीय कारीगरों की भूमिका सीमित हो गई और उन्हें न्यूनतम पारिश्रमिक पर काम करना पड़ा।

- **औपनिवेशिकोत्तर संघर्ष:** आज भी लाह उत्पादन पर बाहरी कंपनियों और बिचौलियों का नियंत्रण है, जिससे जनजातीय समुदाय अपनी मेहनत का उचित मूल्य पाने के लिए संघर्ष कर रहे हैं।

1.8.2 तेंदू पत्ता: बीड़ी उद्योग का आधार

तेंदू पत्ता, जिसका उपयोग बीड़ी निर्माण में किया जाता है, झारखंड के वनों का एक और बहुमूल्य संसाधन है। तेंदू पत्ता संग्रहण से बड़ी संख्या में ग्रामीण और जनजातीय परिवारों को रोजगार मिलता है।

- **संघर्ष और अधिकार:** औपनिवेशिक शासन के दौरान तेंदू पत्ते पर सरकारी नियंत्रण लागू किया गया, जिससे स्थानीय समुदाय अपनी भूमि पर तेंदू पत्ते संग्रहण से वंचित हो गए। स्वतंत्रता के बाद भी, तेंदू पत्ता व्यापार पर सरकारी नीतियां और ठेकेदारी व्यवस्था बनी रही, जिससे जनजातीय समुदायों के अधिकार सीमित रहे। वन अधिकार अधिनियम के बावजूद, इन समुदायों को अभी भी अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करना पड़ता है।

1.8.3 महुआ (Mahua): पारंपरिक और आर्थिक महत्व

महुआ, झारखंड के वनों में पाए जाने वाला एक महत्वपूर्ण पेड़ है, जिसकी फूल और बीज का उपयोग खाद्य पदार्थ, तेल, और पारंपरिक पेय बनाने में किया जाता है। महुआ का उपयोग जनजातीय समाज में सांस्कृतिक और धार्मिक अनुष्ठानों में भी होता है।

- **औपनिवेशिक प्रभाव:** ब्रिटिश शासन के दौरान महुआ पर कर लगाए गए और इसके संग्रहण पर प्रतिबंध लगाए गए, जिससे जनजातीय समाज की आजीविका पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा।

- **वर्तमान स्थिति:** महुआ संग्रहण और व्यापार आज भी कई जनजातीय परिवारों की आय का मुख्य स्रोत है। हालांकि, बाहरी बाजार के नियंत्रण और बढ़ते प्रतिस्पर्धा के कारण इन्हें अपनी मेहनत का उचित लाभ नहीं मिल पाता।

1.8.4 चिरौंजी और कंद-मूल: भोजन और आय का स्रोत

चिरौंजी के बीज, जो सूखे मेवे के रूप में उपयोग किए जाते हैं, और विभिन्न कंद-मूल (जैसे जड़ी-बूटियां और कंद) जनजातीय समुदायों के लिए भोजन और आय का मुख्य स्रोत हैं।

- **संघर्ष और चुनौतियां:** औपनिवेशिक शासन और वनों पर सरकारी नियंत्रण ने इन संसाधनों की स्वतंत्र संग्रहण को बाधित किया। स्वतंत्रता के बाद, वन संरक्षण नीतियों के कारण इन संसाधनों पर पहुंच सीमित हो गई, जिससे जनजातीय समुदायों को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

1.8.5 वन औषधियां: पारंपरिक चिकित्सा का आधार

झारखंड के वनों में विभिन्न प्रकार की औषधीय जड़ी-बूटियां पाई जाती हैं, जिनका उपयोग पारंपरिक चिकित्सा पद्धतियों में होता है। इनमें *हर्रा, बहेरा, आंवला, गिलोय,* और *अश्वगंधा* जैसी जड़ी-बूटियां शामिल हैं।

- **औपनिवेशिक हस्तक्षेप:** औपनिवेशिक शासन के दौरान इन औषधीय पौधों का वाणिज्यिक दोहन किया गया और पारंपरिक चिकित्सा पद्धतियों को नजरअंदाज किया गया।

- **औपनिवेशिकोत्तर प्रभाव:** वन संरक्षण अधिनियम और औद्योगिक दवाओं के प्रसार ने पारंपरिक औषधीय ज्ञान और संसाधनों पर जनजातीय समुदायों की पहुंच को सीमित कर दिया। गैर-लकड़ी आधारित वन संसाधन जनजातीय समाज के जीवन, आजीविका, और सांस्कृतिक पहचान के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। औपनिवेशिक शासन और बाद के सरकारी नियंत्रण ने इन संसाधनों पर जनजातीय समुदायों की पारंपरिक पहुंच को बाधित किया। झारखंड में इन संघर्षों के ऐतिहासिक साक्ष्य जनजातीय आंदोलनों के माध्यम से स्पष्ट होते हैं, जो उनके अधिकारों और संसाधनों की बहाली की मांग करते हैं। सतत प्रबंधन और समुदाय आधारित नीतियों के माध्यम से इन संसाधनों का संरक्षण और सही उपयोग जनजातीय समाज और पर्यावरण दोनों के लिए लाभकारी होगा।

- **रेजिन, गोंद, शहद:** रेजिन, गोंद, और शहद गैर-लकड़ी आधारित वन संसाधन हैं, जो आर्थिक और पारिस्थितिकीय दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। रेजिन का उपयोग पेंट, वार्निश और सुगंधित उत्पादों में होता है, जबकि गोंद पैकेजिंग, खाद्य प्रसंस्करण और औद्योगिक अनुप्रयोगों में व्यापक रूप से उपयोगी है। शहद, जिसे मधुमक्खियों द्वारा उत्पादित किया जाता है, एक पोषक और स्वास्थ्यवर्धक प्राकृतिक खाद्य पदार्थ है, जो औषधीय गुणों से भरपूर है। इन उत्पादों से न केवल स्थानीय समुदायों को आय मिलती है, बल्कि वे उद्योगों को कच्चा माल भी प्रदान करते हैं। इनके सतत उपयोग और संरक्षण से आजीविका और वनों की पारिस्थितिकी दोनों सुरक्षित रहती हैं।

झारखंड के वनों से प्राप्त रेजिन, गोंद, और शहद जैसे गैर-लकड़ी संसाधन स्थानीय जनजातीय समुदायों के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण रहे हैं। इन प्राकृतिक उत्पादों का उपयोग पारंपरिक जीवनशैली, चिकित्सा, और आजीविका के लिए लंबे समय से किया जा रहा है। हालांकि, औपनिवेशिक और औपनिवेशिकोत्तर काल में इन संसाधनों पर बाहरी नियंत्रण और वाणिज्यिक दोहन ने स्थानीय जनजातीय समुदायों की आजीविका और सांस्कृतिक प्रथाओं को गंभीर रूप से प्रभावित किया है।

1.8.6 रेजिन: पेड़ से प्राप्त मूल्यवान रेजिन

रेजिन, या प्राकृतिक रेजिन, झारखंड के वनों में पाए जाने वाले कुछ प्रमुख पेड़ों, जैसे साल और हल्दी, से प्राप्त किया जाता है। यह गाढ़ा गोंद जैसा पदार्थ औद्योगिक और पारंपरिक उपयोग में होता है। जनजातीय समुदाय इसे रेजिन के रूप में उपयोग करते हैं, जो कि धातु की पॉलिश, जलपोत, और वस्त्र उद्योगों में महत्वपूर्ण होता है।

- **औपनिवेशिक काल का प्रभाव:** ब्रिटिश शासन के दौरान रेजिन का बड़े पैमाने पर वाणिज्यिक दोहन हुआ। रेजिन की मांग बढ़ने के कारण, पेड़ों से इसका अधिकतम उत्पादन किया गया, जिससे स्थानीय जनजातीय समुदाय अपनी पारंपरिक आजीविका से वंचित हो गए।

- **संघर्ष:** वर्तमान में, रेजिन पर बाहरी कंपनियों का कब्जा है, और स्थानीय समुदायों को उनकी मेहनत का उचित मूल्य नहीं मिल पाता। इसके खिलाफ संघर्ष अभी भी जारी है, क्योंकि यह संसाधन स्थानीय समुदायों के जीवन और आजीविका के लिए महत्वपूर्ण है।

1.8.7 गोंद: पारंपरिक उपयोग और वाणिज्यिक महत्व

गोंद, जिसे स्थानीय रूप से "चिपड़ी" या "गोला" भी कहा जाता है, झारखंड के वनों से प्राप्त किया जाता है। यह प्राकृतिक गोंद विभिन्न पेड़ों से प्राप्त होता है, जैसे कि साल, हल्दी, और आम। इसका उपयोग पारंपरिक चिकित्सा, कागज, प्लास्टिक, और अन्य उद्योगों में किया जाता है।

- **औपनिवेशिक काल का प्रभाव:** औपनिवेशिक शासन के दौरान गोंद की मांग में तेजी आई। इसका वाणिज्यिक दोहन अधिक हो गया, जिससे स्थानीय जनजातीय समुदायों को अपनी पारंपरिक वन-आधारित आजीविका से वंचित होना पड़ा।

- **संघर्ष:** आज भी गोंद के व्यापार पर बाहरी कंपनियों का नियंत्रण है, जिससे स्थानीय जनजातीय समुदायों को अपनी मेहनत का उचित लाभ प्राप्त करने में कठिनाई होती है। उनके पारंपरिक ज्ञान और तकनीकों को नजरअंदाज किया जाता है, जिससे वे अपनी आजीविका के साधनों से वंचित हो जाते हैं।

1.8.8 शहद: जैव विविधता और पारंपरिक स्वास्थ्य प्रथाओं का स्रोत

शहद झारखंड के वनों में पाए जाने वाले विविध प्रकार के मधुमक्खियों से प्राप्त किया जाता है। यह स्थानीय जनजातीय समुदायों के लिए न केवल एक पोषण स्रोत है, बल्कि पारंपरिक औषधीय उपचार और जीवनशैली में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

औपनिवेशिक काल का प्रभाव: औपनिवेशिक शासन के दौरान, वन प्रबंधन और संरक्षण नीतियों ने शहद पर स्थानीय जनजातीय समुदायों की पहुंच को सीमित कर दिया। वनों के संरक्षण और सरकारी नियंत्रण ने शहद के उत्पादन और संग्रहण में बाधा डाली।

संघर्ष: आज भी शहद उत्पादन और वाणिज्यिक बिक्री पर बाहरी कंपनियों का कब्जा है। स्थानीय जनजातीय समुदायों को अपने पारंपरिक शहद संग्रहण प्रथाओं के लिए संघर्ष करना पड़ता है, क्योंकि उन्हें बाजार में उचित मूल्य नहीं मिल पाता। रेजिन, गोंद, और शहद जैसे गैर-लकड़ी संसाधन झारखंड के जनजातीय समुदायों की पारंपरिक जीवनशैली और आजीविका के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। औपनिवेशिक और औपनिवेशिकोत्तर काल में इन संसाधनों पर बाहरी

नियंत्रण और वाणिज्यिक दोहन ने जनजातीय समुदायों को उनके पारंपरिक अधिकारों और आजीविका से वंचित कर दिया। इन संघर्षों के ऐतिहासिक साक्ष्य आज भी जनजातीय समुदायों के आंदोलनों में स्पष्ट दिखाई देते हैं, जो अपनी पारंपरिक आजीविका की बहाली और अधिकार की मांग कर रहे हैं।

तेंदू पत्ते (बीड़ी बनाने में उपयोग): तेंदू पत्ते, जिन्हें "ग्रीन गोल्ड" भी कहा जाता है, बीड़ी निर्माण के लिए उपयोग में लाई जाने वाली मुख्य सामग्री हैं। ये पत्ते *Diospyros melanoxylon* नामक वृक्ष से प्राप्त होते हैं, जो भारत के विभिन्न वनों में प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। इन पत्तों को उनकी मुलायम बनावट, मजबूती, और मोड़ने की क्षमता के कारण आदर्श माना जाता है। तेंदू पत्ते खासतौर पर मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, ओडिशा, और महाराष्ट्र जैसे राज्यों में बड़े पैमाने पर इकट्ठा किए जाते हैं।बीड़ी उद्योग ग्रामीण और आदिवासी क्षेत्रों में लाखों लोगों, विशेष रूप से महिलाओं के लिए आजीविका का एक प्रमुख स्रोत है। तेंदू पत्तों का संग्रहण, प्रसंस्करण और बीड़ी निर्माण प्रक्रिया से कई परिवारों की रोज़गार जरूरतें पूरी होती हैं। इसके व्यापार पर राज्य सरकारें भी निर्भर करती हैं, क्योंकि इससे महत्वपूर्ण राजस्व प्राप्त होता है। हालांकि, इनके अधिक दोहन से वनक्षेत्रों पर दबाव बढ़ता है। इसलिए, तेंदू पत्तों का सतत प्रबंधन और वन संरक्षण आवश्यक है, ताकि इसका सामाजिक और आर्थिक महत्व बरकरार रखा जा सके।

औषधीय पौधे और जड़ी-बूटियां: औषधीय पौधे और जड़ी-बूटियां वनों से प्राप्त बहुमूल्य संसाधन हैं, जो पारंपरिक चिकित्सा, आधुनिक औषधि उद्योग और घरेलू उपचार में उपयोग किए जाते हैं। भारत में आंवला, नीम, तुलसी, अश्वगंधा, एलोवेरा, गिलोय, और हल्दी जैसे औषधीय पौधे अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। ये पौधे एंटीऑक्सीडेंट, एंटीबायोटिक, और रोग प्रतिरोधक गुणों से भरपूर होते हैं। आंवला विटामिन सी का प्राकृतिक स्रोत है, जो इम्यूनिटी बढ़ाने में सहायक है। नीम त्वचा रोगों, संक्रमण और दंत स्वच्छता के लिए उपयोगी है, जबकि तुलसी अपने एंटी-बैक्टीरियल और एंटी-इंफ्लेमेटरी गुणों के लिए प्रसिद्ध है। अश्वगंधा शारीरिक और मानसिक तनाव को कम करता है, और हल्दी को उसके सूजन-रोधी और एंटीसेप्टिक गुणों के लिए जाना जाता है।जड़ी-बूटियों का उपयोग न केवल आयुर्वेद और यूनानी चिकित्सा में होता है, बल्कि आधुनिक दवाओं और सौंदर्य प्रसाधनों में भी इनका कच्चा माल के रूप में योगदान है। ग्रामीण और आदिवासी समुदाय इन पौधों के संग्रहण और बिक्री पर निर्भर करते हैं, जो उनके आर्थिक सशक्तिकरण का एक स्रोत है। इनके बढ़ते औद्योगिक और घरेलू उपयोग के कारण इनके सतत प्रबंधन और

संरक्षण की आवश्यकता है, ताकि जैव विविधता बनी रहे और औषधीय गुणों का लाभ लंबे समय तक मिलता रहे।

बांस, बेंत, घास: बांस, बेंत, और घास वनों से प्राप्त ऐसे संसाधन हैं, जो बहुउपयोगी होने के साथ-साथ पारिस्थितिकी और आर्थिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। बांस को "गरीब आदमी की लकड़ी" कहा जाता है, जो फर्नीचर, घरों के ढांचे, टोकरी, चटाई, पुल, और कागज उद्योग में उपयोगी है। यह तेजी से बढ़ने वाला पौधा है, जो मिट्टी की गुणवत्ता सुधारने और कटाव रोकने में सहायक है। बेंत मुख्य रूप से हस्तशिल्प, फर्नीचर निर्माण और सजावटी सामान जैसे चटाई, टोकरी, और परदे बनाने के लिए प्रयोग किया जाता है। यह टिकाऊ और लचीला होने के कारण कारीगरों के लिए आदर्श सामग्री है। घास, जैसे लेमनग्रास और मॉस घास, औद्योगिक और घरेलू उपयोग के लिए आवश्यक है; यह सुगंधित तेल, घास का गत्ता, और पशु चारे के रूप में काम आता है।ग्रामीण और आदिवासी समुदाय इन संसाधनों के संग्रहण और उपयोग पर निर्भर करते हैं, जो उन्हें रोजगार और आर्थिक सशक्तिकरण प्रदान करते हैं। इनके सतत दोहन और प्रबंधन से प्राकृतिक संतुलन बनाए रखना और इनका लंबे समय तक उपयोग सुनिश्चित करना संभव है।

जैविक संसाधन (Biotic Resources): जैविक संसाधन (Biotic Resources) वनों, महासागरों, खेतों और विभिन्न प्राकृतिक पर्यावरणों से प्राप्त संसाधन होते हैं, जो जीवित और प्राकृतिक तत्वों से उत्पन्न होते हैं। इनमें वन्यजीव, पौधे, वृक्ष, मछलियां, और विभिन्न सूक्ष्म जीव शामिल हैं। यह संसाधन मानव जीवन के लिए आवश्यक हैं और कृषि, पशुपालन, शिकार और मछली पालन जैसे क्षेत्रों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। उदाहरण के लिए, वनों से प्राप्त लकड़ी, फल, फूल, औषधीय पौधे, और रेजिन जैविक संसाधनों के महत्वपूर्ण उदाहरण हैं। वहीं, समुद्रों और नदियों से मछलियाँ, शंख, मोती और अन्य जलजीव प्राप्त होते हैं, जिनका व्यापार और उपभोग दोनों के लिए महत्व है। जैविक संसाधन न केवल प्रत्यक्ष रूप से मानव जीवन के लिए आवश्यक हैं, बल्कि पारिस्थितिकी तंत्र के संतुलन को बनाए रखने में भी सहायक हैं। ये जैव विविधता की संपत्ति को संरक्षित करते हैं, और हमारे भोजन, औषधि, कपड़े, और कई अन्य उपयोगी उत्पादों का स्रोत हैं। इसके बावजूद, इन संसाधनों का अत्यधिक दोहन पर्यावरणीय असंतुलन का कारण बन सकता है, इसलिए इनका सतत उपयोग और संरक्षण अत्यंत आवश्यक है।

झारखंड के वनों में जैविक संसाधन महत्वपूर्ण आर्थिक, सामाजिक, और सांस्कृतिक योगदान देते हैं। ये संसाधन न केवल स्थानीय जनजातीय समुदायों की आजीविका और सांस्कृतिक पहचान के लिए आवश्यक हैं, बल्कि जैव विविधता के संरक्षण में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। जैविक संसाधनों में वनस्पति, पशु, कीट, जड़ी-बूटियां, औषधीय पौधों, वन्यजीव, और मृदा में पाए जाने वाले जीवाणु शामिल हैं।

1.8.9 वनस्पति (Flora): वनों का प्रमुख जैविक संसाधन

झारखंड के वनों में विभिन्न प्रकार की वनस्पतियां पाई जाती हैं, जिनमें महुआ, तेंदू पत्ता, आंवला, हर्रा, बहेरा, और विभिन्न जड़ी-बूटियां शामिल हैं। ये वनस्पति स्थानीय समुदायों के लिए पोषण, चिकित्सा, और कृषि की विविध आवश्यकताओं को पूरा करती हैं।

- **महुआ (Mahua):** महुआ की महत्ता स्थानीय समुदायों के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसके फूल, बीज और तने से खाद्य पदार्थ, तेल, और शराब बनाई जाती है।
- **तेंदू पत्ता (Tendu Patta):** तेंदू पत्तों का उपयोग बीड़ी उद्योग में होता है, जो जनजातीय समुदायों के लिए आजीविका का एक प्रमुख स्रोत है।
- **जड़ी-बूटियां (Medicinal Plants):** झारखंड के वनों में कई औषधीय पौधे जैसे हर्रा, बहेरा, और आंवला पाए जाते हैं। इनका उपयोग पारंपरिक चिकित्सा में होता है, और ये स्थानीय स्वास्थ्य देखभाल प्रणाली का एक अभिन्न हिस्सा हैं।

औपनिवेशिक और औपनिवेशिकोत्तर काल में इन वनस्पतियों के वाणिज्यिक दोहन ने स्थानीय समुदायों को उनकी पारंपरिक अधिकारों से वंचित कर दिया। वन संरक्षण और औद्योगिक गतिविधियों के प्रभाव से इन वनस्पतियों की उपलब्धता और गुणवत्ता प्रभावित हुई है।

1.8.10 वन्यजीव (Fauna): जैव विविधता का स्तंभ

झारखंड के वनों में विभिन्न वन्यजीव, जैसे हिरण, भालू, तेंदुआ, नीलगाय, हाथी, और विभिन्न प्रकार के पक्षी, सरीसृप, और कीट-पतंगे पाए जाते हैं। ये वन्यजीव जैविक विविधता के लिए महत्वपूर्ण हैं और स्थानीय जनजातीय समुदायों के लिए भी अर्थशास्त्रीय और सांस्कृतिक महत्व रखते हैं।

- **वन्यजीवों का संरक्षण और उपयोग:** वन्यजीव, विशेषकर हिरण और अन्य जानवर, स्थानीय समुदायों के लिए मांस, दूध, और अन्य उपयोगों में योगदान करते हैं। साथ ही, इनकी उपस्थिति जैविक संतुलन बनाए रखने में सहायक होती है।

- **संघर्ष और संरक्षण:** औपनिवेशिक काल में वन्यजीवों का शिकार बढ़ा, जिससे जनजातीय समुदायों की आजीविका और पर्यावरणीय संतुलन दोनों को नुकसान पहुंचा। आज भी वन्यजीवों की सुरक्षा के लिए संघर्ष चल रहे हैं, क्योंकि बाहरी शिकारियों और वन अधिकारियों के नियंत्रण ने इन समुदायों की पारंपरिक शिकार और उपयोग की प्रथाओं को सीमित कर दिया है।

1.8.11 मृदा संसाधन (Soil Resources): जैविक विविधता का आधार

झारखंड के वनों में मृदा संसाधन भी जैविक विविधता का एक महत्वपूर्ण हिस्सा हैं। वनों में पाए जाने वाले कीट, कीटाणु, बैक्टीरिया, और फफूंद जैसी जैविक एजेंट मृदा में जैविक कार्बन और पोषक तत्वों के सृजन में मदद करते हैं।

- **जैविक संतुलन और कृषि उत्पादन:** इन जैविक एजेंटों की उपस्थिति से मृदा की उर्वरता बनी रहती है, जो कृषि उत्पादन और वनों की जैविक विविधता के संरक्षण में सहायक होती है।

- **संघर्ष और संरक्षण:** औपनिवेशिक और औद्योगिक गतिविधियों के कारण मृदा संसाधनों की जैव विविधता को नुकसान पहुंचा है। जलवायु परिवर्तन और प्रदूषण ने भी मृदा संसाधनों की जैविक क्षमता को घटा दिया है। झारखंड के वनों में जैविक संसाधन स्थानीय समुदायों की आजीविका, चिकित्सा, और सांस्कृतिक पहचान के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। औपनिवेशिक और औद्योगिक गतिविधियों ने इन जैविक संसाधनों की उपलब्धता और उपयोग को बाधित किया है। जैव विविधता के संरक्षण और स्थानीय समुदायों के अधिकारों की बहाली के लिए उचित नीतिगत हस्तक्षेप और सतत प्रबंधन आवश्यक है। यह सुनिश्चित करना होगा कि स्थानीय समुदायों को उनके पारंपरिक अधिकार प्राप्त हों और जैविक संसाधनों का संरक्षण उनकी आजीविका के लिए वरदान साबित हो।

- **वन्यजीव, पशु पक्षी:** वन्यजीव, पशु और पक्षी जैविक संसाधनों का अहम हिस्सा होते हैं और पारिस्थितिकी तंत्र के संतुलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये संसाधन न केवल पर्यावरणीय संतुलन बनाए रखते हैं, बल्कि विभिन्न वन और प्राकृतिक आवासों में जैव विविधता को संरक्षित भी करते हैं। वन्यजीव, जैसे बाघ, हाथी, गुलदार और भालू, वनस्पति और जीवों के प्राकृतिक आवास को नियंत्रित करते हैं। पशु और पक्षी, जैसे गाय, बकरी, मुर्गी, मुर्गा, हंस, तोता, और पंछी, न केवल खाद्य पदार्थ प्रदान करते हैं, बल्कि प्राकृतिक प्रणाली में परागण, बीज प्रसार, और प्राकृतिक शिकार के माध्यम से पारिस्थितिकीय संतुलन बनाए रखते हैं। इनका आर्थिक, सांस्कृतिक, और पारंपरिक महत्व है, क्योंकि इनसे लोगों की आजीविका जुड़ी होती है, खासकर ग्रामीण और आदिवासी समुदायों के लिए। हालाँकि, इन संसाधनों का अत्यधिक शिकार और वनों की कटाई इनकी संख्या को घटा सकती है, इसलिए इनका संरक्षण और सतत प्रबंधन जरूरी है।

- **जैव विविधता (Biodiversity):** जैव विविधता (Biodiversity) पृथ्वी पर जीवन के सभी रूपों की विविधता और समृद्धि को दर्शाती है, जिसमें पौधे, जानवर, सूक्ष्मजीव, और उनके पारिस्थितिकीय प्रणालियाँ शामिल हैं। यह जैविक संसाधनों का नेटवर्क है, जो पारिस्थितिकी तंत्रों को संतुलित करने, आहार श्रृंखला बनाए रखने और पर्यावरणीय स्थिरता प्रदान करने में सहायक है। जैव विविधता तीन प्रमुख स्तरों पर पाई जाती है— जीन विविधता, प्रजाति विविधता, और पारिस्थितिकीय विविधता। यह कृषि, चिकित्सा, और उद्योगों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है क्योंकि विभिन्न पौधे और जीव, औषधियाँ, खाद्य पदार्थ और कच्चे माल प्रदान करते हैं। साथ ही, जैव विविधता पारिस्थितिकी तंत्र सेवाएँ जैसे पानी की सफाई, मृदा सुरक्षा, और जलवायु नियंत्रण में भी योगदान करती है। हालांकि, जैव विविधता में गिरावट, अव्यवस्थित शिकार, वनस्पति और वन्यजीवों का आवास नष्ट होने के कारण एक बड़ी चिंता बन गई है। इसे संरक्षित करने के लिए सतत प्रबंधन और संरक्षण नीति का पालन करना आवश्यक है।

झारखंड के वनों में जैव विविधता अनमोल प्राकृतिक संपदा है, जो न केवल क्षेत्र की पारिस्थितिकीय स्थिरता बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है, बल्कि स्थानीय जनजातीय समुदायों की आजीविका और सांस्कृतिक पहचान के लिए भी अत्यधिक मूल्यवान है। जैव विविधता का तात्पर्य जीवित जीवों, उनके बीच आपसी संबंध, और उनके आवास से है। झारखंड के वनों में विभिन्न प्रकार के पौधों, जानवरों, कीट-पतंगे, जलीय जीव, और सूक्ष्म जीवों की प्रचुरता

देखने को मिलती है। ये जैव विविधता स्थानीय समुदायों की पारंपरिक जीवनशैली, खाद्य सुरक्षा, चिकित्सा, और आर्थिक गतिविधियों के आधारभूत स्तंभ के रूप में कार्य करती है। झारखंड के वनों में पाई जाने वाली जैव विविधता के प्रमुख घटक वनस्पति, जीव, मृदा संसाधन, और जल संसाधन हैं। इन घटकों का पारिस्थितिकीय संतुलन बनाए रखना आवश्यक है, ताकि जैव विविधता को संरक्षित किया जा सके और प्राकृतिक संसाधनों की सतत् उपयोगिता सुनिश्चित की जा सके।

1.8.12 वनस्पति विविधता

झारखंड के वनों में विभिन्न प्रकार के पेड़-पौधे पाए जाते हैं, जो न केवल जैव विविधता के संरक्षण में सहायक होते हैं, बल्कि स्थानीय समुदायों के लिए भोजन, औषधि, और ईंधन की आपूर्ति भी प्रदान करते हैं। इन वनों में महुआ, आंवला, हर्रा, बहेरा, साल, हल्दी, और तेंदू जैसे महत्वपूर्ण वनस्पति पाए जाते हैं। ये वनस्पति न केवल स्थानीय समुदायों के पोषण और चिकित्सा की जरूरतों को पूरा करते हैं, बल्कि औद्योगिक और वाणिज्यिक महत्व भी रखते हैं।

औपनिवेशिक और औपनिवेशिकोत्तर काल में वनों की कटाई और वाणिज्यिक उपयोग ने वनस्पति विविधता को गंभीर रूप से प्रभावित किया है। औद्योगिक वन उपयोग, सड़क निर्माण, और खनन गतिविधियों के कारण इन पौधों की जैव विविधता में भारी कमी आई है। इसके परिणामस्वरूप स्थानीय जनजातीय समुदायों की पारंपरिक जीवनशैली और संसाधनों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।

1.8.13 जीव विविधता

झारखंड के वनों में पाई जाने वाली वन्यजीव प्रजातियों की विविधता भी महत्वपूर्ण है। यहां हिरण, नीलगाय, हाथी, तेंदुआ, भालू, और कई प्रकार के पक्षी तथा सरीसृप पाए जाते हैं। इन वन्यजीवों का संरक्षण जैव विविधता के संरक्षण के लिए अत्यंत आवश्यक है।

औपनिवेशिक काल में इन वन्यजीवों का शिकार बड़ी संख्या में किया गया था, जिससे कई प्रजातियों का अस्तित्व संकट में आ गया। आज भी अवैध शिकार, विशेषकर हाथियों और तेंदुओं के लिए, जैव विविधता को नुकसान पहुंचा रहा है। साथ ही, वनों में औद्योगिक गतिविधियों के कारण इन जानवरों के निवास स्थान पर भी बुरी तरह से प्रभाव पड़ा है।

वन्यजीवों की जैव विविधता का संरक्षण केवल पशु अधिकारों के लिए ही नहीं, बल्कि वनों के पारिस्थितिकीय संतुलन के लिए भी आवश्यक है। इन जीवों की उपस्थिति से जैव विविधता बनी रहती है, और उनके प्राकृतिक आवास सुरक्षित रहते हैं, जो अंततः पूरे जैवमंडल की स्थिरता सुनिश्चित करता है।

1.8.14 कीट-पतंगे और सूक्ष्म जीव विविधता

झारखंड के वनों में पाए जाने वाले कीट-पतंगे और सूक्ष्म जीव जैव विविधता के अनमोल घटक हैं। ये कीट-पतंगे, जैसे कीटाणु, बैक्टीरिया, फफूंद, और अन्य सूक्ष्मजीव, मृदा संरचना, पोषक तत्त्वों की पुनःसंचारण, और पौधों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

इन सूक्ष्म जीवों की जैव विविधता मृदा की उर्वरता बनाए रखने में सहायक होती है, जो कृषि उत्पादन और वन्य जीवन के लिए आवश्यक है। हालांकि, औद्योगिक गतिविधियों, खनन, और शहरीकरण के कारण इन सूक्ष्म जीवों की विविधता में कमी आ रही है। मिट्टी की गुणवत्ता में गिरावट, कीटनाशकों और रासायनिक उर्वरकों के अत्यधिक उपयोग ने इन सूक्ष्म जीवों के कार्यों को प्रभावित किया है।

1.9 जल संसाधन विविधता

झारखंड के वनों में नदियां, झीलें, और झरने जैव विविधता के महत्वपूर्ण घटक हैं। ये जल स्रोत न केवल स्थानीय वन्यजीवों और वनस्पतियों के लिए जीवनदायी हैं, बल्कि जलवायु के नियमन और जल चक्र में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

जल संसाधनों की जैव विविधता में मछलियां, जल कीट, फाइटोप्लांकटन, और सूक्ष्म जीव शामिल हैं, जो इन पारिस्थितिकी तंत्रों को स्वस्थ बनाए रखने में सहायक होते हैं। हालांकि, वनों की अंधाधुंध कटाई, खनन, औद्योगिक अवसंरचना, और कृषि गतिविधियों ने इन जल स्रोतों की जैव विविधता को प्रभावित किया है। प्रदूषण, रासायनिक अपशिष्ट, और जल स्रोतों की अतिक्रमण ने इनके पारिस्थितिकीय संतुलन को हानि पहुंचाई है।

1.10 जैव विविधता का सामाजिक और आर्थिक महत्व

झारखंड के जनजातीय समुदायों के लिए जैव विविधता न केवल सांस्कृतिक और पारंपरिक महत्व रखती है, बल्कि उनके जीवन की आजीविका भी इस पर निर्भर करती है। स्थानीय समुदाय

विभिन्न वनस्पति, वन्यजीव, और जड़ी-बूटियों से खाद्य, औषधीय, ईंधन, कपड़े, और अन्य आवश्यक चीजें प्राप्त करते हैं।

इसके अलावा, जैव विविधता पर्यावरणीय स्थिरता और जलवायु परिवर्तन के प्रबंधन में भी सहायक है। ये संसाधन वन-आधारित कृषि, जल संरक्षण, और वनों की बहाली में योगदान देते हैं, जिससे जनजातीय समुदायों की जीवनशैली में सुधार होता है।

झारखंड के वनों में जैव विविधता की बहुलता न केवल स्थानीय जनजातीय समुदायों की आजीविका और सांस्कृतिक धरोहर के लिए महत्वपूर्ण है, बल्कि पर्यावरणीय स्थिरता के लिए भी आवश्यक है। औपनिवेशिक और औद्योगिक प्रभाव ने इन जैव विविधता के स्रोतों को गंभीर रूप से प्रभावित किया है, जिससे वनों की पारिस्थितिकी तंत्रों में असंतुलन आया है। जैव विविधता को संरक्षित करना और स्थानीय समुदायों को उनकी पारंपरिक अधिकारों की बहाली सुनिश्चित करना अत्यंत आवश्यक है, ताकि झारखंड की जैव विविधता को सतत् बनाए रखा जा सके और पर्यावरणीय स्थिरता सुनिश्चित की जा सके।

खनिज संसाधन (Mineral Resources): खनिज संसाधन (Mineral Resources) पृथ्वी की गहरी परतों से प्राप्त प्राकृतिक पदार्थ हैं, जिनका उपयोग औद्योगिक विकास, ऊर्जा उत्पादन, निर्माण और दैनिक जीवन में होता है। ये संसाधन विभिन्न प्रकार के होते हैं, जैसे धातु और अधातु खनिज। धातु खनिजों में लौह अयस्क, तांबा, सोना, चाँदी, एल्यूमिनियम, और प्लेटिनम प्रमुख हैं, जिनका उपयोग निर्माण, वाहन उद्योग, बिजली उपकरण, आभूषण और अन्य औद्योगिक उत्पादों में होता है। अधातु खनिजों में कोयला, पेट्रोलियम, प्राकृतिक गैस, चूना पत्थर, जिप्सम, और खाद्यान्न उद्योग के लिए आवश्यक खनिज शामिल हैं। कोयला और पेट्रोलियम ऊर्जा उत्पादन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, जबकि चूना पत्थर और जिप्सम निर्माण उद्योग में उपयोग होते हैं। खनिज संसाधन न केवल आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं, बल्कि ये देशों के विकास में मुख्य भूमिका निभाते हैं, क्योंकि इनके द्वारा होने वाली आय और रोजगार के अवसर समाज के आर्थिक आधार को मजबूत करते हैं। हालांकि, इन संसाधनों का अत्यधिक दोहन पर्यावरणीय नष्ट होने का कारण बन सकता है, इसलिए इनका सतत उपयोग और पर्यावरण संरक्षण जरूरी है।

कोयला, चूना पत्थर: कोयला और चूना पत्थर दो महत्वपूर्ण खनिज संसाधन हैं, जो उद्योग, ऊर्जा उत्पादन और निर्माण में अहम भूमिका निभाते हैं। कोयला मुख्य रूप से ऊर्जा का स्रोत है और

बिजली उत्पादन के लिए एक प्रमुख ईंधन के रूप में उपयोग किया जाता है। इसके अलावा, कोयला इस्पात उद्योग में भी बड़े पैमाने पर इस्तेमाल होता है, क्योंकि इसे कोक में परिवर्तित करके धातु उत्पादन के लिए आवश्यक ऊष्मा प्रदान की जाती है। भारत, चीन और अमेरिका जैसे देशों में कोयला प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। दूसरी ओर, चूना पत्थर एक प्रकार का खनिज है, जो मुख्य रूप से निर्माण कार्य में प्रयोग होता है, जैसे सीमेंट निर्माण, भवन निर्माण, और पत्थर की नक्काशी में। यह कैल्शियम कार्बोनेट से बना होता है और इसका उपयोग सामग्रियों के उत्पादन में भी होता है। चूना पत्थर का उपयोग पानी के शोधन, कृषि में क्षारीयता को नियंत्रित करने और विभिन्न रासायनिक प्रक्रियाओं में भी किया जाता है। इन दोनों खनिजों का अत्यधिक उपयोग व प्रदूषण को बढ़ा सकता है, इसलिए इनका सतत प्रबंधन और पर्यावरणीय प्रभावों की निगरानी जरूरी है।

वन क्षेत्र में पाए जाने वाले प्राकृतिक खनिज: वन क्षेत्रों में पाए जाने वाले प्राकृतिक खनिज विविध प्रकार के होते हैं, जो न केवल स्थानीय समुदायों के लिए बल्कि समग्र अर्थव्यवस्था के लिए भी अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। इन क्षेत्रों में मुख्यतः कोयला, लोहा अयस्क, पत्थर, चूना पत्थर, जिप्सम, बॉक्साइट, गिट्टा, मैंगनीज और नमक जैसे खनिज पाए जाते हैं। कोयला वनों से निकलने वाले प्रमुख ऊर्जा स्रोतों में से एक है, जिसका उपयोग विद्युत उत्पादन और औद्योगिक गतिविधियों के लिए किया जाता है। लोहा अयस्क और बॉक्साइट धातु उद्योग में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, क्योंकि इनसे इस्पात और एल्यूमिनियम का उत्पादन किया जाता है। चूना पत्थर और जिप्सम निर्माण और सीमेंट उद्योग में उपयोग होते हैं, जबकि मांगनिज का इस्तेमाल स्टील निर्माण में होता है। इसके अलावा, गिट्टा (जेड), जो वनों में पाया जाता है, किमती पत्थरों की श्रेणी में आता है और बाजार में उच्च मूल्य पर बिकता है। ये खनिज वनों में मिलने वाले प्राकृतिक संसाधन हैं, जो न केवल वनस्पति और जैव विविधता के बीच संतुलन बनाए रखते हैं, बल्कि औद्योगिक और सामाजिक जरूरतों को पूरा करने में भी सहायक होते हैं। हालांकि, इन खनिजों के अधिक उत्खनन से वनस्पति, जल स्रोतों और पारिस्थितिकी तंत्र पर नकारात्मक प्रभाव पड़ सकता है, इसलिए इनके दोहन और प्रबंधन के लिए स्थिरता और पर्यावरण संरक्षण की आवश्यकता है।

इको-पर्यटन (Eco-tourism): इको-पर्यटन (Eco-tourism) एक पर्यटन प्रकार है, जो पर्यावरण के संरक्षण, प्राकृतिक संसाधनों के टिकाऊ उपयोग और स्थानीय समुदायों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति में सुधार पर केंद्रित होता है। इसका मुख्य उद्देश्य प्राकृतिक सुंदरता

और जैव विविधता को संरक्षित रखते हुए पर्यटकों को वन्यजीवों, वनों, समुद्र तटों और ऐतिहासिक स्थलों के समृद्ध पारिस्थितिकी तंत्र के संपर्क में लाना होता है। इको-पर्यटन में पर्यटक प्राकृतिक स्थानों पर यात्रा करते हैं, लेकिन उनकी यात्रा और गतिविधियाँ पर्यावरणीय नुकसान के बजाय संरक्षित और सतत विकास को बढ़ावा देती हैं। यह स्थानीय समुदायों को पर्यटन से होने वाली आय का लाभ प्रदान करता है, जिससे उनकी आर्थिक स्थिति सशक्त होती है। इको-पर्यटन द्वारा पर्यावरणीय शिक्षा को बढ़ावा दिया जाता है, जिससे लोग वन्यजीवों और पर्यावरण संरक्षण के महत्व को समझते हैं। भारत में काजीरंगा राष्ट्रीय उद्यान, सपुतारा, कुर्ग, ओडिशा के समुद्र तट, और नीलगिरि पर्वत जैसी जगहें इको-पर्यटन के प्रसिद्ध केंद्र हैं। यह पर्यटन प्रकृति प्रेमियों, शोधकर्ताओं, और साहसिक यात्रियों के बीच विशेष रूप से लोकप्रिय है। इसके तहत पर्यटकों को वन्यजीवों की रेस्क्यू प्रक्रिया, पक्षी दर्शन, ट्रैकिंग, कैम्पिंग, और लोक कला संस्कृति से जुड़े कार्यों में भाग लेने का अवसर मिलता है। हालाँकि, इको-पर्यटन में यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक उपयोग न हो और पारिस्थितिकी पर नकारात्मक प्रभाव न पड़े, ताकि यह एक स्थिर, दीर्घकालिक यात्रा का अनुभव बने और स्थानीय समुदायों की संस्कृति और पारिस्थितिकी तंत्र को नुकसान न पहुंचे।

झारखंड में इको-पर्यटन एक ऐसी अवधारणा है, जो जैव विविधता के संरक्षण, स्थानीय समुदायों के सामाजिक-आर्थिक विकास, और पर्यावरणीय स्थिरता को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इको-पर्यटन का मुख्य उद्देश्य है पर्यावरणीय संवेदनशीलता को महत्व देते हुए टिकाऊ पर्यटन गतिविधियों के माध्यम से जैव विविधता के संरक्षण को सुनिश्चित करना, और स्थानीय समुदायों को उनकी पारंपरिक जीवनशैली को बनाए रखने के लिए आर्थिक अवसर प्रदान करना। झारखंड के वन्य क्षेत्र, जल स्रोत, और अद्वितीय जैव विविधता स्थल पर्यावरणीय पर्यटन के लिए आदर्श स्थान बन गए हैं। इन क्षेत्रों में जनजातीय समुदायों की सांस्कृतिक धरोहर, पारंपरिक ज्ञान, और जैव विविधता का संरक्षण इको-पर्यटन के माध्यम से संभव हो सकता है। झारखंड के वनों और वन्यजीवों की जैव विविधता अत्यंत समृद्ध और विविधतापूर्ण है। यहां के वनों में महुआ, साल, हल्दी, आंवला, बहेरा, और तेंदू जैसे अनेक प्राचीन वनस्पति प्रजातियां पाई जाती हैं, जो न केवल जैव विविधता को समृद्ध करती हैं, बल्कि स्थानीय जनजातीय समुदायों के लिए खाद्य, औषधीय, और अन्य उपयोगी संसाधनों की आपूर्ति भी करती हैं। इन वनस्पतियों के माध्यम से स्थानीय समुदाय अपने पारंपरिक तरीकों से चिकित्सा, भोजन, और आजीविका के साधन प्राप्त करते हैं। इको-पर्यटन के जरिए इन संसाधनों की महत्वता और संरक्षण को बढ़ावा दिया जा सकता है।

वन्यजीवों की बात करें, तो झारखंड के वनों में हाथी, तेंदुआ, हिरण, भालू, और कई प्रकार के पक्षी और सरीसृप पाए जाते हैं। ये वन्यजीव न केवल जैव विविधता के प्रतीक हैं, बल्कि इनकी उपस्थिति पारिस्थितिकीय संतुलन बनाए रखने के लिए भी आवश्यक है। इको-पर्यटन के माध्यम से इन वन्यजीवों की सुरक्षा और संरक्षण को प्राथमिकता दी जा सकती है। इसके अलावा, पर्यटक इन स्थानों पर बर्ड वॉचिंग, ट्रैकिंग, वाइल्डलाइफ सफारी, और नैचुरल वॉक जैसी गतिविधियों के माध्यम से इस जैव विविधता को अनुभव कर सकते हैं, जिससे उन्हें पर्यावरणीय शिक्षा और जागरूकता भी मिलती है। झारखंड के जनजातीय समुदायों के लिए भी इको-पर्यटन अत्यंत महत्वपूर्ण है। इन समुदायों के जीवन की रीढ़ वनों और वन्यजीवों पर आधारित है। पारंपरिक रूप से इन समुदायों ने प्रकृति और वन संसाधनों के साथ सामंजस्यपूर्ण संबंध बनाए रखे हैं। वनों से मिलने वाले संसाधनों के माध्यम से वे अपने दैनिक जीवन की आवश्यकताएं पूरी करते हैं, जैसे कि खाद्य पदार्थ, औषधियां, ईंधन, और सामग्रियां। इको-पर्यटन के माध्यम से इन समुदायों को आजीविका के नए और टिकाऊ स्रोत प्राप्त करने का अवसर मिलता है। पर्यटन गतिविधियों से उन्हें वन्यजीव संरक्षण, वन उत्पादों के प्रबंधन, और पर्यावरणीय स्थिरता में अपनी भागीदारी को सुदृढ़ करने का मौका मिलता है। झारखंड के कई क्षेत्रों में इको-पर्यटन स्थलों की पहचान की गई है, जो न केवल स्थानीय जनता के लिए आर्थिक अवसर प्रदान करते हैं, बल्कि पर्यटकों को भी आकर्षित करते हैं। इनमें लातेहार, सिंहभूम, रांची, हजारीबाग, चटनिया, और पलामू जैसे प्रमुख क्षेत्रों का नाम लिया जा सकता है। इन स्थानों पर पर्यटन गतिविधियां जैसे ट्रैकिंग, जंगल सफारी, वाइल्डलाइफ अभयारण्यों का दौरा, रिवर राफ्टिंग, बर्ड वॉचिंग, और स्थानीय सांस्कृतिक पर्यटन सम्मिलित हैं। इन गतिविधियों के माध्यम से पर्यटक न केवल स्थानीय जैव विविधता की सुंदरता का आनंद लेते हैं, बल्कि उनके साथ एक सशक्त संबंध भी स्थापित करते हैं।

झारखंड में इको-पर्यटन के माध्यम से पर्यावरणीय संरक्षण को बढ़ावा देने के साथ-साथ स्थानीय समुदायों के सामाजिक-आर्थिक विकास में भी मदद मिल सकती है। इको-पर्यटन से स्थानीय समुदायों को रोजगार के अवसर प्राप्त होते हैं, जैसे गाइडिंग, हॉर्टिकल्चर, ट्रैकिंग और पर्यटन सुविधाओं के प्रबंधन से जुड़े रोजगार। इससे उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार होता है और वे अपनी पारंपरिक जीवनशैली को बनाए रखते हुए नई चुनौतियों का सामना कर सकते हैं। हालांकि, झारखंड में इको-पर्यटन की संभावनाएं बहुत अधिक हैं, लेकिन कई चुनौतियां भी हैं। पहली और प्रमुख समस्या है अनियंत्रित पर्यटन गतिविधियों की, जो पर्यावरणीय संतुलन को प्रभावित कर सकती हैं। जंगलों और वन्यजीवों के निवास स्थान पर अतिक्रमण, अवैध शिकार, वन कटाई, और प्रदूषण जैव विविधता को नुकसान पहुंचा सकते हैं। दूसरी समस्या अनजाने

पर्यटकों की बढ़ती संख्या के कारण उत्पन्न हो रही है, जो पर्यावरणीय नियमों की अनदेखी करते हैं। इस प्रकार की गतिविधियों से जैव विविधता और स्थानीय समुदाय दोनों ही प्रभावित हो सकते हैं। इको-पर्यटन को सफल बनाने के लिए स्थानीय समुदायों की सक्रिय भागीदारी और पर्यावरणीय जागरूकता की आवश्यकता होती है। स्थानीय लोगों को पर्यावरणीय शिक्षा प्रदान करके उनकी सहभागिता सुनिश्चित की जा सकती है। इसके अलावा, उचित प्रबंधन, निगरानी, और संरक्षण योजनाओं को लागू करके ही इको-पर्यटन को स्थायी रूप से आगे बढ़ाया जा सकता है। झारखंड के वनों और वन्य जीवन की जैव विविधता को संरक्षित करना और टिकाऊ इको-पर्यटन गतिविधियों को बढ़ावा देना स्थानीय समुदायों के साथ-साथ पर्यावरणीय स्थिरता सुनिश्चित करने के लिए बेहद आवश्यक है। इको-पर्यटन के माध्यम से झारखंड न केवल अपनी जैव विविधता को संरक्षित कर सकता है, बल्कि आर्थिक और सामाजिक लाभ भी प्राप्त कर सकता है। इसलिए, झारखंड में इको-पर्यटन को एक सहायक साधन के रूप में विकसित कर जैव विविधता के संरक्षण, टिकाऊ विकास, और स्थानीय समुदायों के सशक्तिकरण की दिशा में कदम उठाना जरूरी है।

पर्यावरणीय गतिविधियाँ जैसे ट्रेकिंग और जंगल सफारी: पर्यावरणीय गतिविधियाँ, जैसे ट्रेकिंग और जंगल सफारी, प्रकृति से जुड़ने और पर्यावरण संरक्षण को बढ़ावा देने के लिए उत्तम तरीकों के रूप में विकसित हुई हैं। ट्रेकिंग एक साहसिक गतिविधि है, जिसमें पर्यटक पहाड़ों, जंगलों, और नदी क्षेत्रों की यात्रा करते हैं, जो प्राकृतिक सौंदर्य और जैव विविधता को समझने का अवसर प्रदान करती है। यह गतिविधि न केवल शारीरिक स्वास्थ्य को बेहतर बनाती है, बल्कि पर्यटकों को प्राकृतिक संसाधनों और पारिस्थितिकी तंत्र के प्रति जागरूक भी करती है। दूसरी ओर, जंगल सफारी एक अविस्मरणीय अनुभव है, जिसमें लोग जंगलों के बीच से होकर जंगली जानवरों और पक्षियों का अवलोकन करते हैं। यह गतिविधि प्राकृतिक आवासों के महत्व को समझने और वन्यजीवों की सुरक्षा के लिए प्रेरित करती है। जंगल सफारी में पर्यटक प्राकृतिक संरक्षण को महसूस करते हुए, पर्यावरणीय जागरूकता बढ़ाते हैं। ट्रेकिंग और जंगल सफारी, यदि सही तरीके से प्रबंधित की जाएं, तो ये स्थानीय समुदायों को रोजगार के अवसर भी प्रदान कर सकती हैं और पर्यावरण पर पड़ने वाले नकारात्मक प्रभावों को कम कर सकती हैं। इन गतिविधियों को सतत और जिम्मेदारी से करना आवश्यक है ताकि प्रकृति और वन्यजीवों का संरक्षण सुनिश्चित किया जा सके। झारखंड के इको-पर्यटन स्थलों में पर्यावरणीय गतिविधियाँ जैसे ट्रेकिंग और जंगल सफारी पर्यटकों के बीच विशेष रूप से लोकप्रिय हैं। इन गतिविधियों का मुख्य

उद्देश्य स्थानीय जैव विविधता का अनुभव करना, वन्यजीवों के साथ संपर्क बढ़ाना, और प्राकृतिक परिवेश के संरक्षण के प्रति जागरूकता फैलाना है। झारखंड के वनों और वन्यजीवों से भरपूर प्राकृतिक सौंदर्य को संरक्षित करने और स्थानीय समुदायों के सामाजिक-आर्थिक विकास में योगदान देने में ये गतिविधियाँ महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

ट्रेकिंग एक ऐसी गतिविधि है, जिसमें पर्यटक वनों और पहाड़ियों की गहराई में पैदल चलते हुए प्राकृतिक सौंदर्य का अनुभव करते हैं। झारखंड के जंगलों में ट्रेकिंग के लिए कई ट्रैक जैसे लातेहार, पलामू, और सिंहभूम क्षेत्र में मौजूद हैं। इन क्षेत्रों में ट्रेकिंग करते हुए पर्यटक न केवल वनस्पतियों और जंगली जीवों के विविध रूपों को देखते हैं, बल्कि वन्यजीवों के सुरक्षित आवासों की भी सराहना करते हैं। ट्रेकिंग का एक और प्रमुख लाभ है स्थानीय जनजातीय समुदायों के जीवनशैली और परंपराओं के बारे में जानना। जनजातीय लोग इन क्षेत्रों में अपनी पारंपरिक जीवनशैली के साथ रहते हैं, और ट्रेकिंग के दौरान उनके साथ बातचीत करके पर्यटक उनकी सांस्कृतिक धरोहर को भी समझ सकते हैं। जंगल सफारी भी झारखंड के इको-पर्यटन स्थलों पर पर्यटकों के बीच अत्यधिक लोकप्रिय है। जंगल सफारी पर्यटकों को जंगली इलाकों में ले जाती है, जहां वे वन्यजीवों को उनकी प्राकृतिक अवस्था में देख सकते हैं। पलामू टाइगर रिजर्व, चटनिया अभयारण्य, और रांची के आसपास के क्षेत्र जंगल सफारी के लिए आदर्श स्थल माने जाते हैं। इन क्षेत्रों में पर्यटक तेंदुआ, हाथी, हिरण, बाघ, भालू, और पक्षियों जैसे वन्यजीवों की झलक पा सकते हैं। जंगल सफारी के दौरान पर्यटक वन्यजीवों के व्यवहार, उनके आवास स्थान, और जैव विविधता के महत्व के बारे में जानकारियां प्राप्त करते हैं।

पर्यावरणीय गतिविधियाँ जैसे ट्रेकिंग और जंगल सफारी केवल वन्यजीवों के बारे में जानने का अवसर प्रदान नहीं करतीं, बल्कि पर्यावरणीय संरक्षण के प्रति जागरूकता भी फैलाती हैं। इन गतिविधियों में शामिल होने से पर्यटकों को यह एहसास होता है कि वन्यजीव और उनकी प्राकृतिक तादात्म्य हमारी जीवन प्रणाली के लिए कितने महत्वपूर्ण हैं। जंगल सफारी और ट्रेकिंग के दौरान पर्यटक न केवल अपनी मनोरंजन की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं, बल्कि वनों के पारिस्थितिकी तंत्र और उसकी संवेदनशीलता के प्रति जागरूक होते हैं। इन पर्यावरणीय गतिविधियों का लाभ स्थानीय समुदायों को भी मिलता है। ट्रेकिंग और जंगल सफारी के माध्यम से स्थानीय लोग गाइड, टूर ऑपरेटर, फोटोग्राफर, और रिसेप्शनिस्ट के रूप में रोजगार प्राप्त करते हैं। इस प्रकार, वे न केवल अपनी पारंपरिक जीवनशैली को बनाए रखते हुए आर्थिक रूप

से लाभान्वित होते हैं, बल्कि जैव विविधता और पर्यावरणीय संरक्षण के क्षेत्र में भी योगदान करते हैं। झारखंड में इको-पर्यटन के तहत ट्रेकिंग और जंगल सफारी जैसी गतिविधियों को सही तरीके से प्रबंधित किया जाना चाहिए ताकि ये गतिविधियाँ पर्यावरणीय क्षति ना करें और जैव विविधता को संरक्षित करने में सहायक बनें। स्थानीय समुदायों की सक्रिय भागीदारी और पर्यावरणीय नियमों का पालन करके इन गतिविधियों को अधिक स्थायी और लाभकारी बनाया जा सकता है। इस प्रकार, ट्रेकिंग और जंगल सफारी झारखंड के इको-पर्यटन क्षेत्र में पर्यावरणीय जागरूकता फैलाने, जैव विविधता के संरक्षण, और स्थानीय समुदायों के आर्थिक विकास में योगदान देने की महत्वपूर्ण गतिविधियाँ हैं। ये गतिविधियाँ न केवल पर्यटकों को प्राकृतिक सौंदर्य का अनुभव कराती हैं, बल्कि उन्हें एक जिम्मेदार पर्यावरणीय अनुभव भी प्रदान करती हैं।

वन क्षेत्र का पर्यटन एवं संरक्षण: वन क्षेत्र का पर्यटन और संरक्षण दोनों का एक-दूसरे से गहरा संबंध है, क्योंकि वन क्षेत्रों में पर्यटन से पर्यटकों को प्रकृति के प्रति जागरूकता बढ़ाने का अवसर मिलता है, जबकि संरक्षण इन प्राकृतिक संसाधनों के स्थायी उपयोग और सुरक्षा के लिए महत्वपूर्ण है। वन पर्यटन में जंगल सफारी, ट्रेकिंग, बर्ड वॉचिंग, और कैम्पिंग जैसी गतिविधियाँ शामिल हैं, जो पर्यटकों को वन्य जीवन और पारिस्थितिकीय तंत्र के करीब लाती हैं। ये गतिविधियाँ स्थानीय समुदायों को रोजगार प्रदान करती हैं और वन क्षेत्रों के महत्व को समझने में मदद करती हैं। वहीं, वन संरक्षण इस पर्यावरणीय मूल्य को बनाए रखने के लिए जरूरी है, ताकि वन्य जीवन, जैव विविधता, और पारिस्थितिकी तंत्र संतुलित रहें। संरक्षण उपायों में प्राकृतिक संसाधनों का सतत प्रबंधन, शिकार पर नियंत्रण, और वनों की अतिक्रमण से रक्षा शामिल है। दोनों मिलकर पर्यावरणीय शिक्षा, स्थानीय विकास, और पारिस्थितिकीय स्थिरता सुनिश्चित करने में मदद करते हैं। झारखंड जैसे वनों और वन्यजीवों से समृद्ध राज्य में वन क्षेत्र का पर्यटन और संरक्षण न केवल जैव विविधता के संरक्षण के लिए महत्वपूर्ण है, बल्कि स्थानीय समुदायों के आर्थिक और सामाजिक विकास में भी अहम भूमिका निभाता है। वनों और वन्यजीवों की अद्वितीयता के कारण झारखंड की पहचान एक जैव विविधता भरे क्षेत्र के रूप में होती है। इन क्षेत्रों में पर्यावरणीय गतिविधियों के माध्यम से न केवल पर्यटकों को प्राकृतिक सौंदर्य का अनुभव कराया जाता है, बल्कि वन संसाधनों के संरक्षण के प्रति जागरूकता भी फैलाई जाती है। पर्यटन गतिविधियाँ वन क्षेत्र के संरक्षण के साथ-साथ जैव विविधता को संरक्षित रखने में महत्वपूर्ण योगदान देती हैं।

वन क्षेत्रों में पर्यटन जैव विविधता के संरक्षण में मददगार साबित होता है। झारखंड के विभिन्न वन्यजीव अभयारण्यों जैसे पलामू टाइगर रिजर्व, हजारीबाग वन्यजीव अभयारण्य, और चटनिया अभयारण्य में पर्यटक जंगल सफारी, ट्रैकिंग, बर्ड वॉचिंग, और प्राकृतिक सौंदर्य का अनुभव करते हैं। इन अभयारण्यों में वन्यजीवों की विविधता और उनकी प्राकृतिक स्थिति को देखने के लिए बड़ी संख्या में पर्यटक आते हैं। जंगल सफारी और ट्रैकिंग जैसे पर्यटन गतिविधियाँ जैव विविधता के संरक्षण के प्रति लोगों में जागरूकता बढ़ाने में सहायक होती हैं। पर्यटक वन्यजीवों को उनकी प्राकृतिक स्थिति में देखने के अनुभव से वन्यजीवों और उनके आवासों के महत्व को समझते हैं, जिससे उनकी सुरक्षा और संरक्षण के प्रति प्रतिबद्धता बढ़ती है। इन पर्यटन गतिविधियों का एक और महत्वपूर्ण पहलू यह है कि वे स्थानीय समुदायों को नए रोजगार के अवसर प्रदान करते हैं। झारखंड के जंगलों में बसे जनजातीय समुदाय, जो पारंपरिक रूप से वनों के उपयोग में शामिल रहे हैं, को पर्यटन से आर्थिक लाभ प्राप्त होता है। इन समुदायों को गाइड, टूर ऑपरेटर, ट्रैकिंग गाइड, रिसेप्शनिस्ट, और स्थानीय उत्पादों के विक्रेता के रूप में रोजगार मिलते हैं। इससे उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार आता है, और वे अपनी पारंपरिक जीवनशैली के साथ आर्थिक स्वावलंबन प्राप्त कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, पलामू टाइगर रिजर्व क्षेत्र में स्थानीय जनजातीय समुदाय जंगल सफारी गाइड के रूप में काम करके अपनी आजीविका को सुरक्षित कर सकते हैं। यह पर्यटन से उनकी आजीविका की स्थिरता को भी सुनिश्चित करता है और उन्हें जैव विविधता की रक्षा में सक्रिय भागीदार बनाता है।

वन क्षेत्र के संरक्षण का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य पर्यावरणीय स्थिरता बनाए रखना और जैव विविधता को संरक्षित करना है। झारखंड में वनों की अंधाधुंध कटाई, वन्यजीवों के शिकार, और अन्य अस्थिर गतिविधियाँ जैव विविधता के लिए गंभीर खतरे उत्पन्न कर रही हैं। यह वन क्षेत्रों में पर्यावरणीय पर्यटन गतिविधियों की अहमियत को और बढ़ा देती है। पर्यटन गतिविधियाँ स्थानीय और बाहरी पर्यटकों को इन मुद्दों के प्रति संवेदनशील बनाती हैं और उन्हें समझने का अवसर प्रदान करती हैं कि जैव विविधता की रक्षा के लिए क्या कदम उठाए जा सकते हैं। पर्यटकों को यह एहसास कराना चाहिए कि वनों और वन्यजीवों की सुरक्षा केवल सरकार या संरक्षित क्षेत्रों तक सीमित नहीं है, बल्कि यह एक सामूहिक प्रयास है जिसमें हर नागरिक की भूमिका है। वन क्षेत्र के संरक्षण में पर्यावरणीय प्रबंधन और पर्यावरणीय नियमों का पालन करना भी आवश्यक है। झारखंड में कई क्षेत्र हैं जहां वन क्षेत्र का अतिक्रमण और अनियमित गतिविधियाँ चल रही हैं, जो जैव विविधता के लिए गंभीर खतरों का कारण बन रही हैं। इसलिए, इन क्षेत्रों में पर्यावरणीय

शिक्षा और संरक्षण के लिए अभियान चलाने की आवश्यकता है। स्थानीय और बाहरी पर्यटकों को पर्यावरणीय नियमों और प्रबंधन के महत्व के बारे में जागरूक करने के लिए इको-पर्यटन स्थलों में पर्यावरणीय शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए। उदाहरण के लिए, जंगल सफारी के दौरान पर्यटकों को यह समझाया जाना चाहिए कि वे किस तरह अपने कूड़े-कर्कट को सही तरीके से निपटाएं, ताकि वन्यजीवों की प्राकृतिक जीवनचर्या में कोई व्यवधान न पहुंचे।

झारखंड में इको-पर्यटन गतिविधियों का समुचित प्रबंधन भी आवश्यक है ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि ये पर्यावरणीय क्षति ना पहुंचाएं। स्थानीय समुदायों और पर्यटन प्राधिकरणों के बीच सामंजस्य से ही वन क्षेत्र के पर्यटन को टिकाऊ बनाया जा सकता है। स्थानीय समुदायों को पर्यटन प्रबंधन प्रक्रिया में शामिल करके वन क्षेत्र के पर्यावरणीय और जैव विविधता संरक्षण को सुनिश्चित किया जा सकता है। पर्यटन क्षेत्र में इन्हें अपनी पारंपरिक जीवनशैली के आधार पर रोजगार मिलते हैं, जिससे वे वन संसाधनों का सतत उपयोग कर सकते हैं। वन क्षेत्र का पर्यटन केवल मनोरंजन और प्राकृतिक सौंदर्य के अनुभव तक सीमित नहीं है, बल्कि यह जैव विविधता के संरक्षण, स्थानीय समुदायों के आर्थिक विकास, और पर्यावरणीय स्थिरता की दिशा में एक प्रभावी कदम है। झारखंड में पर्यटन और संरक्षण को मिलाकर कार्य करना आवश्यक है ताकि वन क्षेत्र और वहां के जैव विविधता को आने वाली पीढ़ियों तक संरक्षित किया जा सके। इको-पर्यटन का लाभ उठाते हुए, यदि पर्यावरणीय प्रबंधन और स्थानीय समुदायों की भागीदारी सुनिश्चित की जाए, तो यह झारखंड की जैव विविधता को संरक्षित रखने और इसे एक टिकाऊ भविष्य सुनिश्चित करने में मदद करेगा।

मिट्टी और जल स्रोत (Soil and Water Resources): मिट्टी और जल स्रोत प्राकृतिक संसाधनों के महत्वपूर्ण घटक हैं, जो कृषि, उद्योग और जैव विविधता के लिए अत्यधिक आवश्यक हैं। मिट्टी कृषि उत्पादन के लिए बुनियादी संसाधन है, जो पौधों की वृद्धि और जीवन के लिए पोषक तत्व प्रदान करती है। यह विभिन्न प्रकारों में पाई जाती है, जैसे काली मिट्टी, लाल मिट्टी, बालू और चिकनी मिट्टी, जो भिन्न-भिन्न जलवायु और भौगोलिक क्षेत्रों में विकसित होती हैं। मिट्टी के गुण, जैसे जल धारण क्षमता, पोषक तत्वों की उपलब्धता, और उसके क्षारीय या अम्लीय स्वभाव, कृषि उत्पादकता पर सीधा प्रभाव डालते हैं। दूसरी ओर, जल स्रोत जैसे नदियाँ, तालाब, झीलें, और भूमिगत जल, जीवन के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। ये पानी की आपूर्ति के स्रोत होते हैं, जो पेयजल, सिंचाई, मछली पालन और उद्योग के लिए उपयोगी हैं। जल का उचित प्रबंधन

और संरक्षण बेहद आवश्यक है, क्योंकि जल संकट और प्रदूषण जैसे मुद्दे जल संसाधनों की उपलब्धता को प्रभावित कर सकते हैं। भूमि और जल दोनों के सम्यक उपयोग के लिए सतत विकास और संसाधन प्रबंधन आवश्यक है, ताकि आने वाली पीढ़ियाँ इन संसाधनों से लाभ उठा सकें। साथ ही, दोनों संसाधनों का संयमित उपयोग और पर्यावरणीय संरक्षण सुनिश्चित किया जाए, ताकि पारिस्थितिकी तंत्र में संतुलन बनाए रखा जा सके।

वनों से उपजाऊ मिट्टी का संरक्षण: वनों से उपजाऊ मिट्टी का संरक्षण अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि वनों की भूमिका मृदा संरक्षण, जलवायु संतुलन और जैव विविधता को बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण होती है। वनों के पौधे और वृक्ष भूमिगत मिट्टी को स्थिर रखते हैं, जिससे जलवर्षा से होने वाले कटाव (एरोजन) और मृदा क्षरण को रोका जा सकता है। पेड़ और पौधे मृदा के पोषक तत्वों को बनाए रखते हैं और उन्हें अम्लीय, क्षारीय, और खाद्य पदार्थों की आवश्यकता को संतुलित करते हैं। वनों में उपस्थित वृक्षों की जड़ें मिट्टी में घुसकर उसे मजबूत और स्थिर बनाए रखती हैं, जिससे ऊपरी मिट्टी का उखड़ना और नदियों में जल प्रवाह में वृद्धि की समस्या कम होती है।वनों से प्राप्त वृक्षों और पौधों की अवशेष सामग्री, जैसे पत्तियाँ और शाखाएँ, प्राकृतिक खाद का काम करती हैं, जिससे मिट्टी की उपजाऊ क्षमता में वृद्धि होती है। यदि वनों का अवैध कटाव और अतिक्रमण रोक दिया जाए, तो मिट्टी के स्थायित्व को बनाए रखा जा सकता है और प्राकृतिक संतुलन बना रह सकता है। इसके अलावा, सतत वन प्रबंधन, वृक्षारोपण, और वन क्षेत्र में जल की अवरोधन क्षमता को बढ़ाकर, मिट्टी के संरक्षण में मदद मिल सकती है और भूमि की उत्पादकता बनाए रखी जा सकती है।

जल के स्रोत जैसे नदियाँ, झरने: जल के स्रोत, जैसे नदियाँ और झरने, जीवन के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं और इनका पारिस्थितिकी तंत्र पर गहरा प्रभाव होता है। नदियाँ न केवल जल आपूर्ति का स्रोत हैं, बल्कि ये कृषि सिंचाई, उद्योग, घरेलू उपयोग और परिवहन के लिए भी आवश्यक हैं। नदियों के पानी से जंगलों, कृषि भूमि, और मानव बस्तियों की जल आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। इसके अतिरिक्त, नदियाँ जैव विविधता को भी पोषित करती हैं और जल मार्गों के जरिए विभिन्न जीवों का आवागमन संभव बनाती हैं। दूसरी ओर, झरने भूमिगत जल से निकलने वाली जलधारा होती हैं, जो पहाड़ी इलाकों में प्राकृतिक रूप से बनती हैं। ये जल स्रोत जलवायु परिस्थितियों और स्थानीय पारिस्थितिकी तंत्र का हिस्सा होते हैं, जिनसे न केवल पानी की आपूर्ति होती है, बल्कि ये नदी और जलधाराओं को समृद्ध बनाते हैं। इन स्रोतों का संरक्षण अत्यधिक

आवश्यक है, क्योंकि जल संकट और जल प्रदूषण इन स्रोतों के भविष्य को खतरे में डाल सकते हैं।

1.11 झारखंड राज्य: भौगोलिक विविधता और प्राकृतिक संसाधन

झारखंड राज्य अपनी भौगोलिक विविधता और प्राकृतिक संसाधनों की प्रचुरता के लिए प्रसिद्ध है, जिसमें नदियाँ और झरने प्रमुख जल स्रोतों के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इन जल स्रोतों का संरक्षण और टिकाऊ उपयोग न केवल स्थानीय जीवन को सुरक्षित करता है, बल्कि राज्य के आर्थिक और पारिस्थितिकीय विकास के लिए भी अत्यंत आवश्यक है। झारखंड की जल संसाधन स्थिति और नदियों-झरनों की भूमिका को समझना इस क्षेत्र की पर्यावरणीय स्थिरता बनाए रखने के लिए आवश्यक है।

नदियाँ: झारखंड में प्रमुख नदियाँ झारखंड की जल आपूर्ति प्रणाली की रीढ़ हैं। इनमें सोन, सुवर्णरिखा नदी , दामोदर नदी, कोयल, और बोरिया जैसी नदियाँ शामिल हैं, जो राज्य की विभिन्न भौगोलिक और जलवायु स्थितियों के अनुरूप बहती हैं। सोन नदी, जो झारखंड की सबसे बड़ी और प्रमुख नदी है, पश्चिमी झारखंड के पठारी इलाकों से निकलती है और बिहार के माध्यम से गंगा में मिलती है। यह नदी सिंचाई, बिजली उत्पादन, घरेलू जल आपूर्ति, और औद्योगिक विकास के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। सोन नदी और इसकी सहायक नदियाँ जैसे कोयल, दक्षिणी कोयल, और हरिहर झारखंड की कृषि, बिजली उत्पादन, और परिवहन की आवश्यकताओं को पूरा करने में सहायक हैं।

सुवर्णरिखा नदी रांची जिले के नगरी गाँव के पास 600 मीटर की ऊंचाई से निकलती है और 395 किलोमीटर की लंबाई तक बहती है. यह झारखंड, पश्चिम बंगाल और ओडिशा से होकर बहती है और बंगाल की खाड़ी में गिरती है. दक्षिणी कोयल नदी, जो झारखंड के पूर्वी हिस्से में बहती है, भी राज्य की सिंचाई आवश्यकताओं को पूरा करने में महत्वपूर्ण है। झारखंड की इन प्रमुख नदियों का योगदान न केवल स्थानीय सिंचाई जरूरतों को पूरा करता है, बल्कि इन नदियों का जल बिजली उत्पादन, मछली पालन, और औद्योगिक जल आपूर्ति में भी अहम योगदान है। इन नदियों का टिकाऊ प्रबंधन झारखंड के आर्थिक और पारिस्थितिकीय विकास के लिए अत्यंत आवश्यक है। खनन, अवैध निर्माण, और वनों की कटाई जैसे कारकों से नदियों की जल धारण क्षमता और जल गुणवत्ता पर नकारात्मक प्रभाव पड़ रहा है।

झरने: झारखंड अपने झरनों के लिए भी प्रसिद्ध है। राज्य के पठारी और पर्वतीय क्षेत्रों में अनेक झरने स्थित हैं, जो प्राकृतिक जल स्रोत के रूप में न केवल स्थानीय जलापूर्ति, बल्कि पर्यटन और जैव विविधता के संरक्षण के लिए भी महत्वपूर्ण हैं। झरनों का जल स्रोत क्षेत्रीय जल निकासी और भूजल पुनः सृजन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। झारखंड, प्राकृतिक सौंदर्य और वन संपदा से भरपूर एक पहाड़ी राज्य है, जिसे "जलप्रपातों की भूमि" भी कहा जाता है। यहाँ कई प्रसिद्ध झरने हैं।

राज्य का सबसे ऊँचा झरना **लोध जलप्रपात** है, जिसकी ऊँचाई लगभग 143 मीटर है और यह लातेहार जिले में स्थित है। यह बूढ़ा नदी पर बना है और मानसून में इसकी गूंज दूर-दूर तक सुनाई देती है। **हुंडरू जलप्रपात**, रांची जिले में स्थित है, जो स्वर्णरेखा नदी पर है और इसकी ऊँचाई लगभग 320 फीट (98 मीटर) है। यह झरना अपने विस्तृत जलप्रवाह और सुंदर दृश्यों के लिए जाना जाता है।

दशम जलप्रपात, **जोन्हा झरना**, और **पंचघाघ जलप्रपात** भी झारखंड के प्रमुख झरनों में शामिल हैं। ये झरने न केवल पर्यटकों को आकर्षित करते हैं, बल्कि स्थानीय लोगों के लिए जल स्रोत और प्राकृतिक संसाधन का कार्य भी करते हैं। झारखंड के झरने राज्य की पारिस्थितिकी, पर्यटन, और सांस्कृतिक विरासत का अभिन्न अंग हैं, जो इसे एक अनोखी प्राकृतिक पहचान प्रदान करते हैं। हजारीबाग वन्यजीव अभयारण्य और हजारीबाग जिले के पर्वतीय क्षेत्रों में भी कई झरने पाए जाते हैं। इनमें से कई झरने पर्यटकों के आकर्षण का केंद्र भी बन चुके हैं, जो न केवल स्थानीय लोगों के जल आपूर्ति की जरूरतों को पूरा करते हैं, बल्कि पर्यटन और जैव विविधता के संरक्षण में भी सहायक हैं। झरनों का जल पर्यावरणीय स्थिरता के लिए महत्वपूर्ण है, क्योंकि वे भूजल पुनःसृजन, जल स्रोत की गुणवत्ता और प्राकृतिक जल संसाधनों के संरक्षण में सहायक होते हैं।

1.11.1 जल स्रोतों का संरक्षण और उपयोग

झारखंड में नदियाँ और झरने जल स्रोतों के संरक्षण और टिकाऊ उपयोग के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। नदियों और झरनों की जलधारा की गुणवत्ता और मात्रा पर खनन, अवैध निर्माण, वनों की कटाई, और अन्य मानवीय गतिविधियों के कारण नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। जल स्रोतों की अपरदन, जल प्रदूषण, और भूमि उपयोग में परिवर्तन से इन जल स्रोतों की क्षरण होती है।

झारखंड सरकार ने जल स्रोतों के संरक्षण के लिए कई योजनाएँ शुरू की हैं, जैसे कि वर्षा जल संचयन, नदियों के पुनर्जीवन, और जल संरक्षण परियोजनाएँ। इन योजनाओं का उद्देश्य जल स्रोतों की स्थिरता सुनिश्चित करना और समुदायों को जल संरक्षण के महत्व के प्रति जागरूक करना है। झारखंड के विभिन्न हिस्सों में जल संरक्षण परियोजनाओं के माध्यम से स्थानीय समुदायों को शामिल किया गया है, ताकि वे जल स्रोतों के महत्व को समझ सकें और उनकी रक्षा में भागीदार बन सकें।

झारखंड में जल स्रोतों के संरक्षण के लिए स्थानीय सरकार, गैर-सरकारी संगठन (NGO), और ग्रामीण समुदायों के साथ समन्वय स्थापित करना आवश्यक है। वनों के संरक्षण, खनन गतिविधियों पर नियंत्रण, और जल स्रोतों की गुणवत्ता और मात्रा बनाए रखने के लिए विशेष ध्यान देना होगा। झारखंड के नदियों और झरनों के समुचित प्रबंधन से न केवल कृषि और जल आपूर्ति को सहारा मिलेगा, बल्कि स्थानीय और क्षेत्रीय विकास को भी बढ़ावा मिलेगा। जल स्रोतों का टिकाऊ प्रबंधन झारखंड की जल संकट की समस्या को हल करने और जीवन की बुनियाद को सुरक्षित रखने में मदद करेगा। इन जल स्रोतों का संरक्षण झारखंड के जैव विविधता और पारिस्थितिकीय स्थिरता के लिए भी महत्वपूर्ण है। इसलिए, जल स्रोतों के समुचित प्रबंधन की आवश्यकता अब और भी महत्वपूर्ण हो गई है।

1.11.2 जनजातीय समुदायों के लिए वन संसाधनों का महत्त्व

जनजातीय समुदायों के लिए वन संसाधनों का महत्त्व निम्नलिखित बिंदुओं में संक्षेपित किया जा सकता है:

- **आजीविका का स्रोत:** जनजातीय समुदायों के लिए वन संसाधन उनकी मुख्य आजीविका का स्रोत होते हैं। वनों से प्राप्त लकड़ी का उपयोग घरों के निर्माण, ईंधन और उपकरणों के लिए किया जाता है। इसके अलावा, वनों में उगने वाले फल, शहद, औषधीय पौधे, और रेजिन इन समुदायों की खाद्य आपूर्ति और स्वास्थ्य देखभाल के लिए अहम होते हैं। इसके साथ ही, जड़ी-बूटियाँ और अन्य वन्य उत्पाद पारंपरिक चिकित्सा और घरेलू जरूरतों के लिए इस्तेमाल होते हैं। वनों से मिलने वाली इन संसाधनों से उनके जीवन की बुनियादी जरूरतें पूरी होती हैं और उनकी आर्थिक स्थिति सुनिश्चित होती है।

- **भोजन और स्वास्थ्य:** जनजातीय समुदायों के लिए वन संसाधन उनके भोजन और स्वास्थ्य की महत्वपूर्ण आवश्यकता को पूरा करते हैं। वनों से प्राप्त फल, जड़ी-बूटियाँ, कंदमूल और शहद इन समुदायों के दैनिक आहार का प्रमुख हिस्सा होते हैं। ये प्राकृतिक खाद्य पदार्थ उन्हें पोषण, विटामिन, और अन्य आवश्यक तत्व प्रदान करते हैं। इसके अलावा, औषधीय पौधे जो वन में पाए जाते हैं, उनका उपयोग इन समुदायों में पारंपरिक चिकित्सा के रूप में किया जाता है। यह ज्ञान पीढ़ी दर पीढ़ी चलता है, और इन समुदायों ने प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग कर स्वास्थ्य समस्याओं का इलाज किया है। जैसे कि, कई वनस्पतियाँ चोट-चोट, बुखार, सर्दी, पेट की बीमारियाँ, और त्वचा रोगों का इलाज करने के लिए उपयोग होती हैं। यह वनस्पति, चाहे वह औषधि हो या खाद्य पदार्थ, इनके जीवन का अभिन्न हिस्सा हैं, जो उन्हें न केवल शारीरिक बल्कि मानसिक स्वास्थ्य भी प्रदान करते हैं।
- **आवास और निर्माण सामग्री:** जनजातीय समुदायों के लिए वनों से प्राप्त लकड़ी और बांस आवास और निर्माण सामग्री के प्रमुख स्रोत होते हैं। ये सामग्री उनके घरों, कुटिया, बाड़ों, और अन्य आवश्यक संरचनाओं के निर्माण में उपयोग की जाती है। लकड़ी और बांस की मजबूती और लचीलापन इन समुदायों के भवनों को स्थायित्व प्रदान करता है। इसके अलावा, बांस का उपयोग चटाई, फर्नीचर और विभिन्न घरेलू उपकरण बनाने में भी किया जाता है। इन सामग्रियों से न केवल सुरक्षित और मजबूत आवास मिलते हैं, बल्कि समुदायों की आर्थिक और सामाजिक गतिविधियाँ भी संभव होती हैं।
- **सांस्कृतिक और धार्मिक महत्त्व:** वन संसाधन जनजातीय समुदायों के लिए सांस्कृतिक और धार्मिक दृष्टिकोण से अत्यधिक महत्वपूर्ण होते हैं। इनके जीवन में प्रकृति और वन्यजीवों का गहरा संबंध होता है, जो उनके परंपराओं और धार्मिक विश्वासों का अभिन्न हिस्सा होते हैं। कई जनजातीय समुदाय वनों को पवित्र मानते हैं और इनका संरक्षण धार्मिक अनुष्ठानों, त्योहारों, और पूजा विधियों में शामिल होता है। वे विभिन्न पेड़ों, पशु और पक्षियों को आदिक देवताओं के रूप में पूजते हैं और उनके संरक्षण को अपने सांस्कृतिक उत्तराधिकार का हिस्सा मानते हैं। इस प्रकार, वन उनके जीवन के आध्यात्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्र से जुड़ा होता है।
- **परंपरागत ज्ञान और कौशल:** जनजातीय समुदायों के पास वन संसाधनों के उपयोग और प्रबंधन का परंपरागत ज्ञान होता है, जो वे पीढ़ी दर पीढ़ी स्थानांतरित करते हैं। यह

ज्ञान प्राकृतिक संसाधनों के समुचित उपयोग, उनकी सुरक्षा और उनके टिकाऊ प्रबंधन पर आधारित होता है। जैसे कि, वे सही समय पर जड़ी-बूटियों को इकट्ठा करना, लकड़ी का कटाव संतुलित तरीके से करना और वन्यजीवों के साथ सामंजस्य बनाए रखना जानते हैं। यह पारंपरिक ज्ञान इन समुदायों को पारिस्थितिकी तंत्र के साथ संतुलन बनाए रखने में मदद करता है, जिससे वे लंबी अवधि तक अपनी प्राकृतिक धरोहरों का संरक्षण कर पाते हैं।

- **सामाजिक संरचना:** वन संसाधनों का सामूहिक रूप से उपयोग जनजातीय समुदायों की सामाजिक संरचना को सुदृढ़ करता है। वनों से प्राप्त संसाधनों जैसे लकड़ी, फलों, औषधियों और जल का उपयोग एकत्रित रूप से किया जाता है, जिससे इन समुदायों में सामूहिकता और सहयोग की भावना उत्पन्न होती है। सदस्य मिलकर कार्य करते हैं, जैसे शिकार, कृषि, निर्माण, और फसल काटने, जो उनके बीच रिश्तों को मजबूत बनाता है। ये साझा गतिविधियाँ न केवल संसाधनों के न्यायसंगत वितरण को सुनिश्चित करती हैं, बल्कि समुदाय के सामाजिक ताने-बाने को भी बनाए रखती हैं।
- **आर्थिक स्थिरता:** वन संसाधनों से प्राप्त वस्त्र, सामान, और व्यापार जनजातीय समुदायों की आर्थिक स्थिरता को सुनिश्चित करते हैं। लकड़ी, बांस, फलों, शहद और अन्य वन उत्पादों का उपयोग न केवल उनके घरेलू आवश्यकताओं को पूरा करता है, बल्कि इन्हें बेचकर वे आय अर्जित करते हैं, जिससे उनके आर्थिक जीवन स्तर में सुधार होता है।

1.11.3 वन संसाधनों की पहुंच के लिए जनजातीय संघर्षों के ऐतिहासिक साक्ष्य

भारत में वन संसाधनों की पहुंच को लेकर जनजातीय संघर्षों का इतिहास लंबा और जटिल रहा है। कई जनजातीय समुदायों ने अपनी परंपरागत जीवनशैली और संसाधनों की रक्षा के लिए संघर्ष किया। इन संघर्षों के प्रमुख ऐतिहासिक साक्ष्यों में शामिल हैं:

- **चिपको आंदोलन (1973):** भारत में पर्यावरणीय आंदोलन का एक प्रमुख उदाहरण है, जो उत्तराखंड के गढ़वाल क्षेत्र में शुरू हुआ। इस आंदोलन का नेतृत्व ग्रामीण महिलाओं और जनजातीय समुदायों ने किया, जो अपने पारंपरिक जीवन के लिए जंगलों पर निर्भर थे। जब सरकार और व्यापारिक कंपनियों ने इन जंगलों में वृक्षों की अवैध कटाई शुरू की, तो स्थानीय लोगों ने विरोध किया। उन्होंने वृक्षों को गले लगाकर उन्हें काटने से

रोकने की कोशिश की, जिसका प्रतीकात्मक अर्थ था कि वे अपनी ज़मीन और संसाधनों को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं। यह आंदोलन मुख्य रूप से पर्यावरणीय संरक्षण के लिए था, लेकिन साथ ही इसे वन अधिकारों और संसाधनों की स्वामित्व के संदर्भ में जनजातीय समुदायों की हक की रक्षा का संघर्ष भी माना जाता है। इसने भारतीय समाज में पर्यावरणीय और आदिवासी अधिकारों के प्रति जागरूकता बढ़ाई और इसने आगामी वन संरक्षण आंदोलनों को भी प्रेरित किया।

- **संताल हुल (1855-1856):** संताल हुल (1855-1856) एक प्रमुख जनजातीय विद्रोह था जो बंगाल, बिहार और झारखंड के संताल जनजातीय समुदाय द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य और स्थानीय जमींदारों के खिलाफ लड़ा गया। इस विद्रोह का कारण था, ब्रिटिशों और जमींदारों द्वारा संतालों की जमीनों और जंगलों पर कब्जा और उनके पारंपरिक अधिकारों का उल्लंघन। जब संतालों के संसाधनों, जैसे जंगलों और भूमि, पर कब्जा किया जाने लगा और उनकी आजीविका को खतरा हुआ, तो उन्होंने मिलकर विद्रोह किया। संतालों का मानना था कि वन संसाधनों पर उनका स्वामित्व है, और ब्रिटिश शासन और जमींदारों द्वारा इस अधिकार का उल्लंघन उनके अस्तित्व के लिए खतरनाक था। विद्रोह के दौरान संतालों ने आत्मनिर्भरता की सुरक्षा के लिए संघर्ष किया, जिसमें उनकी भूमि, वन्य उत्पादों और पारंपरिक सामाजिक संरचनाओं की रक्षा शामिल थी। हालांकि यह विद्रोह ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ था, फिर भी यह जनजातीय समुदायों के वन संसाधनों पर उनके अधिकारों के संरक्षण का एक महत्वपूर्ण उदाहरण बना।

- **वागरी संघर्ष (1920-1940**): वागरी संघर्ष (1920-1940) महाराष्ट्र और मध्य प्रदेश के आदिवासी समुदायों द्वारा अंग्रेजों के खिलाफ किया गया एक महत्वपूर्ण आंदोलन था, जो उनके वन भूमि अधिकारों के लिए लड़ा गया। इस संघर्ष का कारण था, ब्रिटिश शासन द्वारा वन कानूनों के तहत आदिवासियों पर लगाए गए प्रतिबंध और करों का उनके जीवन पर बुरा प्रभाव। अंग्रेजी शासन ने वाणिज्यिक उद्देश्यों के लिए वनों से उत्पादों की कटाई को बढ़ावा दिया और आदिवासियों से उनके वन्य उत्पादों पर कर वसूला। इससे आदिवासियों का जीवन कठिन हो गया, क्योंकि वे वनों पर निर्भर रहते हुए अपनी आजीविका अर्जित करते थे। इस संघर्ष में आदिवासी समुदायों ने अपने पारंपरिक वन अधिकारों की रक्षा के लिए विरोध किया। उनका तर्क था कि वे वर्षों से इन जंगलों में

निवास कर रहे थे और उनका जीवन इन संसाधनों से जुड़ा था। यह संघर्ष उनके लिए केवल आर्थिक स्वतंत्रता का मुद्दा नहीं था, बल्कि संस्कृति, समान अधिकार और जीवन के मौलिक तत्वों की रक्षा का प्रयास था।

- **कंधमाल आंदोलन (2000 के दशक):** कंधमाल आंदोलन (2000 के दशक) उड़ीसा के कंधमाल जिले में आदिवासी समुदायों द्वारा किया गया संघर्ष था, जिसका उद्देश्य उनके परंपरागत वन अधिकारों को बहाल करना था। इस संघर्ष की शुरुआत उस समय हुई जब सरकारी नीतियों और व्यापारिक हितों के कारण आदिवासी समुदायों की वन भूमि पर अतिक्रमण किया जाने लगा। उनके पारंपरिक वन अधिकारों को नजरअंदाज करते हुए जंगलों का उपयोग बड़े पैमाने पर वाणिज्यिक उद्देश्यों के लिए किया जाने लगा, जिससे इन समुदायों के जीवन में संकट उत्पन्न हो गया। वन अधिकार अधिनियम (2006) ने आदिवासी समुदायों को उनके पारंपरिक भूमि और वन संसाधनों पर अधिकार देने का प्रावधान किया, लेकिन इस कानून के क्रियान्वयन में देरी और असमंजस था। कंधमाल आंदोलन इस अधिनियम के तहत उनके अधिकारों के अधिकारिक रूप से मान्यता पाने के लिए एक मजबूत आंदोलन बन गया। यह संघर्ष आदिवासी समुदायों की समानता और संसाधनों पर स्वामित्व के लिए था और उन्होंने वन अधिकारों के लिए व्यापक जागरूकता और समर्थन प्राप्त किया।

इन संघर्षों से यह सिद्ध होता है कि भारत के आदिवासी समुदायों का वन संसाधनों के साथ गहरा संबंध है और उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति में इन संसाधनों का अत्यधिक महत्व है। इन संघर्षों ने देश में आदिवासी अधिकारों और वन नीतियों के सुधार की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान किया।

1.12 अध्ययन के उद्देश्य और परिकल्पनाएँ

1.12.1 अध्ययन के उद्देश्य

i) झारखंड के जनजातीय समुदायों के जीवन में वन संसाधनों की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक महत्ता का ऐतिहासिक विश्लेषण करना।

ii) औपनिवेशिक काल में ब्रिटिश वन नीतियों और उनके प्रभाव के संदर्भ में जनजातीय संघर्षों का दस्तावेजीकरण और मूल्यांकन करना।

iii) औपनिवेशिकोत्तर भारत में वन संसाधनों की पहुँच और संरक्षण से जुड़े जनजातीय आंदोलनों का अध्ययन करना।

iv) औपनिवेशिक और औपनिवेशिकोत्तर काल के संघर्षों के कारणों, स्वरूप और परिणामों की तुलनात्मक समीक्षा करना।

v) वन अधिकार अधिनियम 2006 (FRA) और नवीनतम वन संरक्षण अधिनियम 2022 (FCA) के प्रभावों का जमीनी स्तर पर विश्लेषण करना।

vi) सरकारी नीतियों और जनजातीय समुदायों के अनुभवों के बीच तालमेल (या संघर्ष) को उजागर करना और नीति-निर्माताओं के लिए अनुशंसाएँ देना।

1.12.2 परिकल्पनाएँ

$H_0$1: औपनिवेशिक काल की वन नीतियों और औपनिवेशिकोत्तर काल की वन नीतियों में जनजातीय समुदायों के वन संसाधनों तक पहुँच के संदर्भ में कोई महत्वपूर्ण अंतर नहीं है।

$H_0$2: औपनिवेशिक और औपनिवेशिकोत्तर काल में जनजातीय संघर्षों के स्वरूप और कारणों में कोई महत्वपूर्ण अंतर नहीं है।

$H_0$3: वर्तमान समय में लागू वन अधिकार अधिनियम 2006 (FRA) और वन संरक्षण अधिनियम 2022 (FCA) ने झारखंड के जनजातीय समुदायों के वन संसाधनों तक वास्तविक पहुँच को उल्लेखनीय रूप से नहीं बदला है।

$H_0$4: जनजातीय समुदायों के वन संसाधनों पर निर्भरता और उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति के बीच कोई महत्वपूर्ण संबंध नहीं है।

$H_0$5: वन संसाधनों से संबंधित सरकारी नीतियों के प्रति जनजातीय समुदायों की धारणा और उनके ऐतिहासिक संघर्ष अनुभवों के बीच कोई महत्वपूर्ण संबंध नहीं है।

अध्याय 2
साहित्य की समीक्षा

किसी भी शोध कार्य की आधारशिला उसके विषय से संबंधित पूर्ववर्ती अध्ययनों, सैद्धांतिक ढांचों और ऐतिहासिक साक्ष्यों के गहन अध्ययन पर आधारित होती है। साहित्य समीक्षा न केवल विषय की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करती है, बल्कि यह भी दर्शाती है कि अब तक किन-किन पहलुओं पर कार्य हो चुका है, किन बिंदुओं पर मतभेद या विवाद हैं, और किन क्षेत्रों में अभी भी शोध की आवश्यकता है। इस अध्याय में, औपनिवेशिक और औपनिवेशिकोत्तर काल में झारखंड के जनजातीय समुदायों द्वारा वन संसाधनों की पहुँच और उनके संरक्षण के लिए किए गए संघर्षों से संबंधित राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय साहित्य का संकलन और विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इसमें इतिहासकारों, समाजशास्त्रियों, नृविज्ञानियों, पर्यावरणविदों, और नीति-विश्लेषकों द्वारा लिखित पुस्तकों, शोध-पत्रों, सरकारी रिपोर्टों, मिशनरी अभिलेखों, और स्थानीय मौखिक परंपराओं का संदर्भ शामिल है।

साहित्य समीक्षा तीन प्रमुख खंडों में विभाजित है

i) **औपनिवेशिक काल का साहित्य** — जिसमें ब्रिटिश वन नीतियों, भूमि-राजस्व व्यवस्थाओं, और उनके परिणामस्वरूप हुए जनजातीय विद्रोहों का विवरण है।
ii) **औपनिवेशिकोत्तर काल का साहित्य** — जिसमें स्वतंत्र भारत में वन अधिकारों, खनन और औद्योगीकरण के प्रभाव, तथा जनांदोलनों का विश्लेषण है।
iii) **तुलनात्मक एवं समकालीन संदर्भ** — जिसमें दोनों कालखंडों के संघर्षों की समानताओं और भिन्नताओं पर केंद्रित अध्ययन शामिल हैं, साथ ही वर्तमान नीतिगत संदर्भ (FRA 2006, FCA 2022) से संबंधित शोध भी।

इस अध्याय का उद्देश्य शोधार्थी को यह समझ प्रदान करना है कि अब तक उपलब्ध साहित्य में क्या योगदान हुआ है, और वर्तमान शोध किस प्रकार से इस क्षेत्र में नया दृष्टिकोण या विस्तारित परिप्रेक्ष्य जोड़ता है। इस प्रकार, यह अध्याय न केवल ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करता है, बल्कि आगे के विश्लेषण के लिए वैचारिक एवं तथ्यात्मक आधार भी तैयार करता है।

2.1 संबंधित साहित्य

एझाकुनेल , ए. (2000) ने अध्ययन में यह उद्देश्य रखा था कि भारत में जंगलों के साथ आदिवासियों के रिश्ते और संयुक्त वन प्रबंधन के प्रभावों का विश्लेषण किया जा सके। शोध में यह पाया गया कि ब्रिटिश सरकार और बाद में स्वतंत्र भारत की सरकार ने आदिवासियों के जंगलों के साथ सदियों पुराने रिश्ते को खत्म कर दिया था, जिसके परिणामस्वरूप इन लोगों को जंगलों तक पहुंच के अधिकार से वंचित किया गया। इससे उनका जीवन यापन कठिन हो गया और वे जंगलों का दोहन करने लगे। अध्ययन में यह भी पाया गया कि सरकार को यह समझ में आया कि केवल उपयोगकर्ता समूहों की सक्रिय भागीदारी से ही जंगलों की सुरक्षा संभव हो सकती है। इसके परिणामस्वरूप संयुक्त वन प्रबंधन (Joint Forest Management) की अवधारणा उभरी, जिसकी शुरुआत पश्चिम बंगाल के झारखंड क्षेत्र से हुई। शोध से यह निष्कर्ष निकलकर आया कि यदि आदिवासी समुदायों की जरूरतों के आधार पर नीतियां बनायीं जाएं, तो संयुक्त वन प्रबंधन प्रभावी और सफल हो सकता है। हालांकि, सरकार की स्थानीय समुदायों की भागीदारी के प्रति उदासीनता एक बड़ी बाधा है, जो इस प्रक्रिया की सफलता को प्रभावित करती है।

रॉबिन्स, पी. (2000). रॉबिन्स, पी. (2000) ने अपने अध्ययन में राज्य और स्थानीय ज्ञान के बीच अंतर को अनुभवजन्य रूप से आकलित किया, ताकि यह समझा जा सके कि प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन में ये विभिन्न प्रकार के ज्ञान कैसे कार्य करते हैं। उन्होंने राजस्थान के कुंभलगढ़ वन्यजीव अभयारण्य के एक केस स्टडी का उपयोग किया, जिसमें यह जांचने का प्रयास किया गया कि राज्य वन नौकरशाही में वर्ग, जाति, लिंग और संबद्धता के आधार पर ज्ञान कैसे भिन्न होता है। उनके अध्ययन के परिणामों ने यह साबित किया कि राज्य और स्थानीय ज्ञान के बीच का विभाजन ज्ञानमीमांसा में सबसे महत्वपूर्ण नहीं है, बल्कि यह स्थानीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था में संसाधनों पर दैनिक संघर्ष है जो प्रकृति और पर्यावरण परिवर्तन के विवादास्पद विवरणों का निर्माण करता है। यह निष्कर्ष दर्शाते हैं कि राज्य और स्थानीय अभिनेताओं के बीच गठबंधन बनाए जाते हैं, जो कुछ दावों को शक्तिशाली बनाते हैं और इस प्रकार प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन नीति तथा पर्यावरणीय बदलावों को प्रभावित करते हैं।

सुन्दर, एन. (2000). सुन्दर, एन. (2000) ने अपने लेख में भारत के संयुक्त वन प्रबंधन (जेएफएम) कार्यक्रम में 'संयुक्तता' की अवधारणा की जांच की। उनका उद्देश्य यह समझना था

कि संयुक्तता किस प्रकार राज्य (वन विभाग) और स्थानीय समुदायों के बीच जुड़ाव के रूप में काम करती है, जिसमें गैर सरकारी संगठन (एनजीओ) अगर मौजूद हों, तो वे इंटरफेस का काम करते हैं। इस अध्ययन में लेखक ने पुराने उदाहरणों के साथ-साथ वर्तमान संयुक्त वन प्रबंधन की प्रथाओं का तुलनात्मक विश्लेषण किया और यह चुनौती दी कि क्या 'संयुक्तता' वास्तव में वन नीति की एक नई विशेषता है, या यह राज्य के खिलाफ नागरिक समाज के पुनरुत्थान का प्रतीक है। इसके अतिरिक्त, लेखक ने यह निष्कर्ष निकाला कि चूंकि कार्यक्रम का मूल एजेंडा पहले से तय किया जाता है, इसलिए इसे पूरी तरह से सहभागी नहीं माना जा सकता है। हालांकि, लेख में यह भी उल्लेख किया गया कि जेएफएम के भीतर दी जाने वाली सीमित पसंद के बावजूद, एक नया और संयुक्त निर्माण हुआ है, जो समुदायों और सरकार के बीच एक समान सहयोग का गठन करता है।

यदामा, जी., और डेवीज़-बॉयड, एम. (2001). ने दक्षिण एशिया में प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन पर चर्चा की, और यह पाया कि अब इस मुद्दे पर बहस नहीं रही कि प्रबंधन सहभागी होना चाहिए या नहीं। उनका अध्ययन बताता है कि पिछले एक दशक से, सहभागी प्रबंधन की अवधारणा भारत, नेपाल और भूटान में वानिकी क्षेत्र के प्रबंधन का प्रमुख मार्गदर्शक सिद्धांत रही है। नेपाल के वानिकी क्षेत्र के मास्टर प्लान में सामुदायिक और निजी वानिकी को प्रमुख घटक के रूप में शामिल किया गया है, और यह उम्मीद की गई है कि 2010 तक वानिकी निवेशों का 47 प्रतिशत इन दो घटकों द्वारा प्राप्त किया जाएगा। संयुक्त वन प्रबंधन (JFM) को सहभागी प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन का एक प्रमुख प्रयास माना गया है, जिसमें राज्य और सामुदायिक भागीदारी के माध्यम से वनों के संरक्षण, प्रबंधन और पुनर्जनन का प्रयास किया गया। यदामा और डेवीज़-बॉयड ने आंध्र प्रदेश के पूर्वी घाट क्षेत्र में आदिवासी समुदायों में वन सह-प्रबंधन की समस्याओं और संभावनाओं पर ध्यान केंद्रित किया। उनका अध्ययन यह दर्शाता है कि JFM में आदिवासी समुदायों को सफलतापूर्वक शामिल करने में कई चुनौतियाँ थीं, और इस प्रक्रिया में सामाजिक पूंजी की भूमिका को महत्वपूर्ण माना गया।

रंगन, एच., और लेन, एमबी (2001) ने अपने अध्ययन में ऑस्ट्रेलिया और भारत में स्वदेशी समुदायों के लिए वन संसाधनों तक पहुंच और पुनर्वितरण न्याय के मुद्दों का विश्लेषण किया। अध्ययन का उद्देश्य इन दोनों देशों में स्वदेशी समुदायों के वन संसाधनों तक पहुंच और स्वामित्व के अधिकारों से संबंधित हाल के संस्थागत दृष्टिकोणों का मूल्यांकन करना था। लेख में दो दशकों

से अधिक समय से स्वदेशी समुदायों द्वारा वन संसाधनों के अधिकारों की मांग को उजागर किया गया, जो historically वंचित थे और मुख्यधारा के सामाजिक-आर्थिक विकास के लाभों से बाहर थे। यह अध्ययन ऑस्ट्रेलिया में क्षेत्रीय वन समझौतों (RFA) और भारत में संयुक्त वन प्रबंधन (JFM) के प्रयोगों पर आधारित था, जो तीन प्रमुख अवधारणाओं - पहुंच, नियंत्रण और वास्तविक लोकतंत्र - के माध्यम से विश्लेषित किए गए थे। लेख ने इन दोनों संस्थागत प्रक्रियाओं के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकाला कि भारत और ऑस्ट्रेलिया में स्वदेशी समुदायों के लिए स्थायी वन संसाधन प्रबंधन की दिशा में किए गए प्रयासों में कमजोरियां और ताकतें दोनों मौजूद थीं। इस शोध ने दर्शाया कि इन प्रणालियों का प्रभाव स्वदेशी लोगों की स्वामित्व और प्रशासनिक नियंत्रण की क्षमता पर निर्भर था।

जॉनसन, सी., और फ़ोर्सीथ, टी. (2002). जॉनसन, सी., और फ़ोर्सीथ, टी. (2002) के अध्ययन का उद्देश्य "अधिकार-आधारित" दृष्टिकोण पर ध्यान केंद्रित करना था, जिसमें न्यायसंगत विकास को व्यक्तिगत और सामुदायिक अधिकारों से जोड़ा गया है। अध्ययन ने थाईलैंड के "सामुदायिक वानिकी विधेयक" के व्यावहारिक अनुप्रयोग का विश्लेषण किया, जो वन आरक्षित क्षेत्रों में पहुँच और संरक्षण के सामुदायिक अधिकारों को स्थापित करने का लक्ष्य रखता था। इसके परिणामस्वरूप यह पाया गया कि थाईलैंड में वाटरशेड वनों और मैंग्रोव से संबंधित संघर्षों के दौरान सामुदायिक अधिकारों के माध्यम से ग्रामीण आजीविका के समर्थन की कोशिशों को एक ऐसे राज्य द्वारा कमजोर किया गया, जिसने अक्सर वाणिज्यिक हितों का समर्थन किया या अल्पसंख्यक समूहों के लिए विकेंद्रीकरण का विरोध किया। यह पत्र यह निष्कर्ष प्रस्तुत करता है कि नागरिक समाज संगठन व्यापक सार्वजनिक क्षेत्रों के भीतर अधिकारों के लिए बातचीत करने में सक्षम हो सकते हैं, जिसमें नियम, अधिकार और "समुदाय" स्थापित होते हैं और उनका बचाव किया जाता है। इस अध्ययन ने यह प्रदर्शित किया कि राज्य और समाज के बीच की सीमाएं अधिकारों और संसाधनों के प्रबंधन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

मैकएवॉय, एल. (2002). मैकएवॉय, एल. (2002) के अध्ययन का उद्देश्य था अमेरिकी पश्चिम में राष्ट्रीय उद्यानों, जंगलों और अन्य संरक्षित क्षेत्रों के संदर्भ में अमेरिकी भारतीयों द्वारा स्थान के अर्थ की समझ को शोध करना। इस अध्ययन में यह बताया गया कि इन संरक्षित क्षेत्रों का अर्थ श्वेत अमेरिकियों और अमेरिकी भारतीयों के बीच बहुत भिन्न था। श्वेत अमेरिकियों के लिए इन स्थानों का परिभाषा मनोरंजन और पर्यटन से जुड़ी थी, जबकि अमेरिकी भारतीयों के लिए ये स्थान उनके सांस्कृतिक और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अत्यधिक महत्व रखते थे। मैकएवॉय

(2002) ने पाया कि इन भिन्नताओं के कारण अक्सर भारतीय भूमि पर या उसके आस-पास के मनोरंजन और पर्यटन संसाधनों के प्रबंधन में संघर्ष उत्पन्न होते थे। इन संघर्षों के पीछे इतिहास की अलग-अलग व्याख्याएं, पार्कों के प्रतीकवाद और विभिन्न विश्व दृष्टिकोणों की भूमिका प्रमुख थी। अध्ययन ने यह भी दर्शाया कि पश्चिमी क्षेत्र में भारतीय जनजातियों की बढ़ती उपस्थिति ने इस मुद्दे पर ध्यान केंद्रित किया, जिससे मनोरंजन और पर्यटन के विद्वानों के लिए अमेरिकी भारतीयों और उनके मुद्दों की गहरी समझ जरूरी हो गई थी। यह अध्ययन सांस्कृतिक भिन्नताओं और पर्यावरणीय संसाधनों के प्रबंधन में आने वाली चुनौतियों को रेखांकित करता है।

ओबिरी, जेए, और लॉज़, एमजे (2002) के अध्ययन का उद्देश्य दक्षिण अफ्रीका में नई भागीदारी वाली वन प्रबंधन नीतियों को बढ़ावा देना था, जिनमें राज्य से स्थानीय समुदायों को अधिकारों का हस्तांतरण शामिल था। इस समय, पारंपरिक अधिकार कमजोर हो चुके थे। शोधकर्ताओं ने वन हितधारकों के दृष्टिकोणों की जांच के लिए प्रश्नावली का उपयोग किया, जिसमें तीन प्रमुख वन प्रबंधन दृष्टिकोणों का अध्ययन किया गया। परिणामस्वरूप, सामुदायिक वन प्रबंधन (सीएफएम) के लिए समर्थन में कमी पाई गई, खासकर पुराने संसाधन उपयोगकर्ताओं के बीच। यह भी पाया गया कि समुदायों को वन प्रबंधन की जिम्मेदारी लेने में सावधानी थी और वे राज्य द्वारा संचालित सतत वन प्रबंधन (एसएफएम) का समर्थन करते थे। वन हितधारक भागीदारीपूर्ण वन प्रबंधन (पीएफएम) के प्रति अस्पष्ट थे, जो संभावित रूप से नए पीएफएम कार्यक्रमों के बारे में उनकी खराब समझ को दर्शाता था। अध्ययन ने यह भी स्थापित किया कि कोई भी हितधारक वन संसाधनों पर पूर्ण प्रतिबंध नहीं चाहता था, लेकिन सभी ने नियंत्रित उपयोग का समर्थन किया। शोध ने यह पुष्टि की कि सीएफएम पर अत्यधिक जोर दिया गया है, जबकि राज्य द्वारा पीएफएम जैसी सर्व-समावेशी नीतियों में अधिक प्रबंधन इनपुट की आवश्यकता को भी पहचाना गया।

वांडरगेस्ट, पी. (2003) ने अपने अध्ययन में दक्षिण-पूर्व एशिया में पहचान और संसाधन राजनीति के बीच के अंतरसंबंध को समझने के लिए नस्लीयकरण की अवधारणा की उपयोगिता पर प्रकाश डाला। इस अध्ययन का उद्देश्य यह था कि यह समझा जा सके कि कैसे भूकर मानचित्रण, वन आरक्षण और सामुदायिक वनों के माध्यम से स्थानों का उत्पादन नस्लीयकृत हो जाता है और यह जातीय पहचान से जुड़ा होता है। अध्ययन के निष्कर्षों में यह पाया गया कि इन स्थानों को नस्लीयकरण के माध्यम से स्थानिक और जातीय पहचान का हिस्सा बना दिया गया

था। दूसरे भाग में, वांडरगेस्ट ने थाईलैंड में नस्लीयकरण और नागरिकता के बीच तनाव की पड़ताल की और दिखाया कि नस्लीयकृत जातीय अल्पसंख्यक समुदायों ने सामुदायिक वानिकी का उपयोग संसाधन अधिकारों और नागरिकता अधिकारों को सुरक्षित करने के लिए किया। थाईलैंड में सामुदायिक वन आंदोलन, जातीय या स्वदेशी पहचान पर आधारित नहीं था, बल्कि यह नागरिकता अधिकारों के विस्तार पर केंद्रित था। अध्ययन के अनुसार, संसाधन अधिकारों को उचित ठहराने के लिए पर्यावरण प्रबंधन मानदंडों पर निर्भरता ने यह दिखाया कि ऊंचे इलाकों में रहने वाले लोगों को ऐसे सीमाओं का सामना करना पड़ सकता था जो निचले इलाकों के लोगों पर लागू नहीं होतीं।

ट्रॉप, जे. (2003) ने दक्षिण अफ्रीका के पूर्व ट्रांसकेई क्षेत्र के स्टोलो जिले में राज्य वनों के प्रभुत्व के दीर्घकालिक विकास का अध्ययन किया। लेख का उद्देश्य 1885 से 1915 तक, उपनिवेशवाद के दौरान राज्य द्वारा स्वदेशी जंगलों पर नियंत्रण स्थापित करने की प्रक्रिया को समझना था, जिसके तहत अफ्रीकी समुदायों के वन संसाधनों पर पहुंच को नियंत्रित किया गया। इस अवधि के बाद, 1950-1960 के दशक में रंगभेद योजनाकारों ने आक्रामक वनीकरण कार्यक्रम शुरू किया, जिसके तहत स्थानीय समुदायों को हटा दिया गया और उनकी भूमि पर विदेशी वृक्षारोपण लगाए गए। अध्ययन में पाया गया कि औपनिवेशिक और रंगभेद योजनाओं ने स्थानीय अफ्रीकी समुदायों की आजीविका और सामाजिक ढांचे में महत्वपूर्ण बदलाव किए, और राज्य वानिकी की शुरुआत और विस्तार एक अत्यधिक विवादास्पद प्रक्रिया थी। स्थानीय लोग इन परिवर्तनों का विरोध करते हुए अपनी आजीविका पर बढ़ते राज्य हस्तक्षेप के प्रभाव पर चर्चा कर रहे थे। इस इतिहास ने यह स्पष्ट किया कि राज्य वानिकी और वन संसाधनों पर नियंत्रण ने केवल पारिस्थितिकी में ही नहीं, बल्कि समाज के पुनर्गठन में भी गहरे संघर्षों को जन्म दिया। ये अनुभव और यादें ट्रांसकेई क्षेत्र के 'विकास' और 'संरक्षण' के आलोचनात्मक विवरण प्रदान करते हैं, जिनमें राज्य के नीतियों द्वारा सामुदायिक जीवन के पुनर्निर्माण के संघर्ष का संकेत मिलता है।

व्हाइटहेड, जे. (2003) ने अपने अध्ययन में बांध विस्थापन के ऐसे पहलू पर ध्यान केंद्रित किया, जिस पर अब तक ध्यान नहीं दिया गया था। उनका उद्देश्य यह समझना था कि बांधों का निर्माण वैश्विक आदिम संचय की प्रक्रियाओं में किस प्रकार योगदान करता है और यह कैसे नवउदारवादी पूंजीवाद के विस्तार से जुड़ा हुआ है। उन्होंने यह तर्क प्रस्तुत किया कि वैश्विक सर्वहारा वर्ग का निर्माण भूमि, जंगल और पानी के साथ पारंपरिक संबंधों को समाप्त करके सुगम

किया गया है। अध्ययन के दौरान यह पाया गया कि विश्वभर में अधिकांश बांध उन क्षेत्रों में स्थित हैं, जहां की स्थानीय आबादी पर्यावरण से कानूनी रूप से कमजोर संबंध रखती है। यह संयोग नहीं था, बल्कि यह नीतियों और प्रबंधकीय निर्णयों का परिणाम था। इसके अतिरिक्त, व्हाइटहेड ने यह भी बताया कि बांध विकास से संबंधित मौजूदा कानून और योजनाएं एक साझा दृष्टिकोण अपनाती हैं, जिसमें उपयोगितावादी तर्क और निजी संपत्ति के कानूनी विश्वास को पर्यावरण और स्थान की अमूर्त अवधारणाओं के साथ जोड़ा गया है। इस अध्ययन में यह निष्कर्ष भी सामने आया कि बांधों का निर्माण न केवल स्थानीय लोगों की ज़मीन और संसाधनों की निजीकरण की ओर ले जाता है, बल्कि यह व्यापक वैश्विक और सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं को भी प्रभावित करता है।

मेहता, ए.के., और शाह, ए. (2003) ने दीर्घकालिक गरीबी को उसकी विस्तारित अवधि, गंभीरता और बहुआयामी अभाव के संदर्भ में देखने के उद्देश्य से यह अध्ययन किया। इस अध्ययन ने मौजूदा साहित्य का उपयोग करते हुए उन लोगों पर ध्यान केंद्रित किया, जो गरीबी के असहनीय रूप से प्रभावित होते हैं। उन्होंने दो दृष्टिकोणों का उपयोग किया: एक क्षेत्र-आधारित दृष्टिकोण और दूसरा ऐतिहासिक रूप से हाशिए पर पड़े समूहों का दृष्टिकोण। क्षेत्र-आधारित दृष्टिकोण ने उन राज्यों और क्षेत्रों की पहचान की, जो दीर्घकालिक गरीबी के संदर्भ में विशेष रूप से असुरक्षित थे, और इसमें शुष्क भूमि और वन-आधारित क्षेत्रों पर ध्यान केंद्रित किया गया। ऐतिहासिक रूप से हाशिए पर पड़े समूहों का दृष्टिकोण अनियमित कृषि मजदूरों, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों जैसे समूहों को प्रकट करता है, जिनमें दीर्घकालिक गरीबी का अनुपात असमान रूप से अधिक था। निष्कर्ष में, अध्ययन ने उन प्रमुख कारकों की समीक्षा की, जो दीर्घकालिक गरीबी में योगदान करते हैं, जैसे भूमि की कमी, संसाधनों की असमान वितरण और सामाजिक सापेक्षीय कारक। इस अध्ययन ने दीर्घकालिक गरीबी के अंतर्निहित कारकों को समझने के लिए एक व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया, जो सरकार और नीति निर्धारण के लिए महत्वपूर्ण था।

पंडित, बीएच, और थापा, जीबी (2004) ने अपने अध्ययन में विभिन्न प्रकार की वन प्रबंधन प्रणालियों का विश्लेषण किया था। उन्होंने सरकारी और समुदाय-प्रबंधित प्रणालियों के तहत गैर-लकड़ी वन उत्पादों (एनटीएफपी) के उपयोग प्रणालियों और संग्रह प्रथाओं का मूल्यांकन भी किया था, साथ ही वनों और एनटीएफपी की स्थिति के लिए उनके निहितार्थों का भी अध्ययन किया था। अध्ययन से यह सामने आया था कि जलग्रहण क्षेत्र के ऊपरी हिस्से में छोटे भू-स्वामित्व

और कम गैर-कृषि रोजगार अवसरों के चलते गंभीर गरीबी उत्पन्न होती थी, लेकिन एनटीएफपी से प्राप्त आय ने ग्रामीणों को काफी लाभ पहुँचाया था। निष्कर्षों के अनुसार, एक सामान्य वन संसाधन के विभिन्न घटकों को अलग-अलग तरीकों से प्रबंधित किया जा सकता था और उनका क्षरण अलग-अलग समय पर हो सकता था। अध्ययन में यह भी पाया गया था कि सरकारी और सामुदायिक वन प्रबंधन प्रणालियों के तहत एनटीएफपी लकड़ी की तुलना में ज्यादा गंभीर रूप से क्षरण से गुजर रहे थे। हालांकि, सामुदायिक वन की तुलना में सरकारी वनों में एनटीएफपी का क्षरण ज्यादा गंभीर था। यह क्षरण मुख्य रूप से उचित संस्थागत व्यवस्थाओं की कमी के कारण हो रहा था, जिसमें एनटीएफपी के सतत उपयोग और प्रबंधन के लिए एक व्यापक सरकारी नीति ढांचे की कमी शामिल थी।

पंडित, बीएच, और थापा, जीबी (2004) ने अपने अध्ययन में विभिन्न प्रकार की वन प्रबंधन प्रणालियों का विश्लेषण किया था। उन्होंने सरकारी और समुदाय-प्रबंधित प्रणालियों के तहत गैर-लकड़ी वन उत्पादों (एनटीएफपी) के उपयोग प्रणालियों और संग्रह प्रथाओं का मूल्यांकन भी किया था, साथ ही वनों और एनटीएफपी की स्थिति के लिए उनके निहितार्थों का भी अध्ययन किया था। अध्ययन से यह सामने आया था कि जलग्रहण क्षेत्र के ऊपरी हिस्से में छोटे भू-स्वामित्व और कम गैर-कृषि रोजगार अवसरों के चलते गंभीर गरीबी उत्पन्न होती थी, लेकिन एनटीएफपी से प्राप्त आय ने ग्रामीणों को काफी लाभ पहुँचाया था। निष्कर्षों के अनुसार, एक सामान्य वन संसाधन के विभिन्न घटकों को अलग-अलग तरीकों से प्रबंधित किया जा सकता था और उनका क्षरण अलग-अलग समय पर हो सकता था। अध्ययन में यह भी पाया गया था कि सरकारी और सामुदायिक वन प्रबंधन प्रणालियों के तहत एनटीएफपी लकड़ी की तुलना में ज्यादा गंभीर रूप से क्षरण से गुजर रहे थे। हालांकि, सामुदायिक वन की तुलना में सरकारी वनों में एनटीएफपी का क्षरण ज्यादा गंभीर था। यह क्षरण मुख्य रूप से उचित संस्थागत व्यवस्थाओं की कमी के कारण हो रहा था, जिसमें एनटीएफपी के सतत उपयोग और प्रबंधन के लिए एक व्यापक सरकारी नीति ढांचे की कमी शामिल थी।

वीरा, बी. (2005) ने अपने शोधपत्र में 1990 के दशक की शुरुआत में हरदा अनुभव का अध्ययन किया, जिसमें यह बताया गया कि भागीदारी वानिकी का प्रयोग न तो पूरी तरह से सफल रहा और न ही पूरी तरह विफल। शोध के उद्देश्य के रूप में, उन्होंने यह विश्लेषण किया कि राज्य और स्थानीय समुदायों के बीच 10 वर्षों के सहयोगात्मक वन प्रबंधन के बावजूद, पदानुक्रमित और असमान रिश्तों में कोई महत्वपूर्ण बदलाव नहीं आया। उनके निष्कर्षों से यह

स्पष्ट हुआ कि, राज्य द्वारा प्रोत्साहित की जाने वाली भागीदारी की प्रक्रिया का नौकरशाही तरीका असमानता को और बढ़ावा देता है, जिसे आदिवासी संगठनों ने गंभीर रूप से आलोचना की। शोध में यह भी पाया गया कि संघर्ष अधिकतर रोजमर्रा के मुद्दों में व्यक्त हुआ, जो स्वाभाविक रूप से पदानुक्रमित सामाजिक संरचना और एक ऐसे विकास प्रतिमान के भीतर उत्पन्न होते हैं, जिसमें भागीदारी वन प्रबंधन को लागू किया जाता है। यह व्यवस्थाएं अभी भी एक अपेक्षाकृत गैर-जवाबदेह और पितृसत्तात्मक राज्य द्वारा नियंत्रित थीं। इस शोध ने यह दर्शाया कि, हालांकि भागीदारी वानिकी के उद्देश्य सकारात्मक थे, लेकिन व्यवहार में इसमें संस्था की असमानताओं और संस्थागत बाधाओं की वजह से दीर्घकालिक सफलता नहीं मिली।

स्वातुक, एल.ए. (2005) ने अपने अध्ययन में समुदाय आधारित प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन (सीबीएनआरएम) कार्यक्रमों का विश्लेषण किया, जो वैश्विक दक्षिण में विशेषकर दक्षिणी अफ्रीका में प्रचलित हैं। इन कार्यक्रमों का उद्देश्य ऐसे दूरस्थ समुदायों के जीवन को सशक्त बनाना था, जो गरीबी की उच्चतम अवस्था में थे और जिनके संसाधनों का उपयोग अनियंत्रित था। सीबीएनआरएम के तहत, प्राकृतिक संसाधन के सह-प्रबंधन से समुदायों की समृद्धि को बढ़ावा देने का प्रयास किया जाता है। हालांकि, इस कार्यक्रम के परिणाम ज्यादातर निराशाजनक रहे, और आम तौर पर स्थानीय लोगों को इनमें असफलता का दोषी ठहराया जाता है। स्वातुक ने बोत्सवाना के मामले को विश्लेषित करते हुए इस सामान्य स्पष्टीकरण का विरोध किया। उनका कहना था कि सीबीएनआरएम को एक संवादात्मक स्थल के रूप में समझा जा सकता है, जहां विभिन्न अभिनेता अपनी शक्ति और ज्ञान के अंतर का उपयोग करते हुए अपने हितों को आगे बढ़ाते हैं। उन्होंने यह भी बताया कि स्थानीय संघर्ष, भूमि और संसाधनों तक पहुँच पर केन्द्रित था, और वैश्विक नियमों और स्थानीय स्वार्थों के बीच जटिल परस्पर क्रिया हुई। अंततः, सीबीएनआरएम के उद्देश्यों के साकार होने में विविधताओं के चलते स्थानीय स्तर पर अनुकूलन की प्रक्रिया उत्पन्न हुई, जो अंतर्राष्ट्रीय मदद और स्थानीय इच्छाओं के बीच सामंजस्य स्थापित करने की चुनौती को स्पष्ट करती है।

ज़र्चर, एस. (2005) ने थाईलैंड में सामुदायिक वानिकी और राज्य की नीतियों पर प्रभाव डालने वाले पर्यावरण आंदोलनों की भूमिका का अध्ययन किया। इस अध्ययन का उद्देश्य राज्य और स्थानीय लोगों के बीच वन संसाधनों के प्रबंधन के अधिकार को लेकर होने वाले संघर्षों को समझना था, और यह बताना था कि इन संघर्षों को केवल अलग-थलग घटनाओं के रूप में नहीं, बल्कि थाई कानून में संरचनात्मक कमी के हिस्से के रूप में देखा जाना चाहिए। इसके अंतर्गत

लेख ने उन नेटवर्कों के उभरने पर चर्चा की, जो राज्य नियंत्रण की प्रभावशीलता पर सवाल उठाते हैं और स्थानीय लोगों के अधिकारों को स्थापित करने के लिए औपचारिक ढांचे की पैरवी करते हैं। लेख यह भी विश्लेषण करता है कि विभिन्न अभिनेताओं ने सामुदायिक वन विधेयक के लोगों के संस्करण को तैयार करने और प्रस्तुत करने में क्या भूमिका निभाई। परिणाम स्वरूप यह पाया गया कि यदि स्थानीय स्तर पर वन संसाधनों तक पहुंच के अधिकार पर संघर्ष नहीं किया जाता, तो राष्ट्रीय स्तर पर इस पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता, विशेष रूप से यदि स्थानीय प्रबंधन के विचार का समर्थन नहीं किया जाता। इसके अतिरिक्त, अध्ययन ने समाज के उस समूह पर विशेष ध्यान केंद्रित किया, जिनका अंतर्राष्ट्रीय साहित्य में कम ध्यान दिया गया था, और इनमें शिक्षाविदों और सार्वजनिक बुद्धिजीवियों की महत्वपूर्ण भूमिका थी।

राव, एन. (2005) के अध्ययन का उद्देश्य झारखंड राज्य के एक गांव में संथाल समुदाय के बीच रिश्तेदारी संबंधों की मजबूती और उनके प्रभाव को समझना था। लेखक ने यह दर्शाया कि किस प्रकार संथाल समुदाय के लोग राज्य और बाजारों से हाशिए पर जाने के बाद अपनी पारंपरिक संस्थाओं का सहारा लेते हुए और पितृवंशीय नियमों को कठोर बनाकर अपनी आदिवासी पहचान को सशक्त करते हैं। हालांकि इस प्रक्रिया में महिलाओं के भूमि उत्तराधिकार के अधिकारों में कमी आई, लेकिन कुछ स्थितियों में महिलाओं को कानूनी अदालतों का सहारा लेते हुए अपने रिश्तेदारों से समर्थन मिला। इस प्रकार, अध्ययन ने यह निष्कर्ष निकाला कि रिश्तेदारी केवल वंचना और दमन का स्रोत नहीं, बल्कि संसाधनों पर दावा करने का एक तरीका भी हो सकती है, विशेषकर तब जब औपचारिक राज्य तंत्र अपर्याप्त हो। इसलिए, महिलाओं के लिए रिश्तेदार समूहों का समर्थन एक महत्वपूर्ण तत्व बन जाता है, जो उनके अधिकारों की रक्षा में सहायक हो सकता है। राव के अध्ययन ने यह सिद्ध किया कि रिश्तेदारी के संबंध कभी स्थिर नहीं होते, वे एक ओर महिला अधिकारों के ह्रास की वजह बन सकते हैं, तो दूसरी ओर यह उस सामाजिक ढांचे में महत्वपूर्ण सहारा भी बन सकते हैं, जो औपचारिक व्यवस्था के सामने अधिक प्रभावी सिद्ध होता है।

दामोदरन, ए. (2006) ने भारत में जनजातीय मुद्दों के नीति विश्लेषण में एक महत्वपूर्ण कमी को रेखांकित किया, जो जनजातीय समुदायों की अस्तित्वगत समस्याओं को एकीकृत दृष्टिकोण से देखे जाने की आवश्यकता को दर्शाता है। उन्होंने यह संकेत दिया कि भारत और दुनिया के अन्य हिस्सों में वन नीतियों ने जनजातीय अशांति को बढ़ावा दिया है। हालांकि, वे यह मानते हैं कि खराब विकास कार्यक्रमों का भी इस समस्या में योगदान था। विशेष रूप से भारत के उत्तरी

केरल के वायनाड जिले के संदर्भ में, दामोदरन ने यह बताया कि जनजातीय समुदायों के प्राकृतिक संसाधन संघर्षों की जड़ें न केवल प्रतिबंधात्मक वन नीतियों में थीं, बल्कि गलत विकास रणनीतियों में भी निहित थीं। उन्होंने यह तर्क किया कि, हालांकि हाल के दिनों में भारत में जनजातीय समुदायों को जंगलों से जोड़ने के प्रयास किए गए, परंतु विकास सोच में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं हुआ था। उन्होंने सुझाव दिया कि यदि नीति में प्रतिमान परिवर्तन लाना है, तो जनजातीय समुदायों को वन सेटिंग्स में समावेशित और पोषित करना होगा, ताकि उनका सही ढंग से समावेश किया जा सके। इस संदर्भ में उन्होंने जैव विविधता संरक्षण के आदर्श को महत्वपूर्ण मानते हुए कहा कि यह दक्षिण भारत के प्राकृतिक संसाधन-समृद्ध देशों के लिए सतत विकास का एक केंद्रीय तत्व बन गया है।

सेन, ए. और लालह्रीतपुई, ई. (2006) ने अपनी अध्ययन में यह उद्देश्य रखा था कि वे स्थानीय समुदायों के जीवन में वनों के महत्व और वनों के उपयोग को लेकर विभिन्न मतों और विवादों का विश्लेषण करें। लेखक ने यह देखा कि हालाँकि स्थानीय समुदायों के वनों से जुड़े महत्व पर अकादमिक साहित्य में काफी चर्चा की गई है, फिर भी वनों का उपयोग और इनसे संबंधित अधिकारों पर विवाद जारी है। उन्होंने यह दावा किया कि अनुसूचित जनजातियों की श्रेणी, जो जंगलों के अधिकारों का दावा करती है, विवादित रही है और इसके कारण विकास और संरक्षण नीति में अस्पष्टता उत्पन्न हुई है। लेखकों ने यह भी चर्चा की कि भारत में वन और जनजातीय नीतियाँ स्थानीय समुदायों की सांस्कृतिक और मूल्य प्रणालियों के प्रति संवेदनशील नहीं हैं, जिससे स्थानीय लोगों और प्रशासन के बीच संघर्ष बढ़ जाता है। उन्होंने यह संकेत किया कि क्षेत्रीय परंपराएँ और परिपाटियाँ, जो इन समुदायों द्वारा संरक्षित की जाती हैं, स्थायी जीवनशैली और पारिस्थितिकी तंत्र के संरक्षण के लिए एक महत्वपूर्ण साधन साबित होती हैं, लेकिन यदि इन्हें बिना समझे स्वीकार किया जाता है, तो इससे कुछ गलतियाँ भी हो सकती हैं। अंत में, लेखक ने यह निष्कर्ष निकाला कि वन संरक्षण नीति को जनजातीय समुदायों को लाभ पहुंचाने और जैव विविधता का संरक्षण करने में प्रभावी रूप से भूमिका निभानी चाहिए, और इसमें मानवविज्ञानी का संवाद और नेतृत्व महत्वपूर्ण है।

क्रूकर, आर.ए. (2006) ने अपने अध्ययन में यह उद्देश्य रखा कि उत्तरी थाईलैंड में पहाड़ी जनजातियों के हाशिए पर डाले जाने से सामाजिक संघर्षों के खतरे का आकलन किया जाए। शोध ने यह विश्लेषण किया कि किस प्रकार जनसंख्या वृद्धि और अभिजात वर्ग द्वारा भूमि हड़पने के कारण पहाड़ी जनजाति के किसानों को कम भूमि पर जीवित रहने के लिए मजबूर किया

गया, और किस तरह वे अपने पारंपरिक स्रोतों से विमुख हो गए। इस अध्ययन ने माई सा घाटी के पहाड़ी जनजाति के गांवों को चुना, जिन्हें आर्थिक विकास के लिए असाधारण स्थानिक लाभ मिलने के बावजूद उन्हें पारिस्थितिक हाशिए पर डाल दिया गया था। अध्ययन के निष्कर्षों ने यह प्रदर्शित किया कि पारिस्थितिकीय हाशिए पर डालने का प्रभाव, यहां तक कि "सर्वश्रेष्ठ मामले" में भी, पहाड़ी जनजातियों की प्रगति में बड़ी बाधाएं उत्पन्न कर रहा था। शोध में यह सिफारिश की गई कि थाईलैंड सरकार को उत्तर की सीमा की स्थिरता सुनिश्चित करने के लिए एक पर्यावरण नीति अपनानी चाहिए, जो जंगलों की सुरक्षा के साथ-साथ वहां रहने वाले लोगों की भी सुरक्षा करे। अगर ऐसा नहीं होता, तो पहाड़ी जनजातियों और थाई समाज के अन्य समूहों के बीच संघर्ष और विघटन की स्थिति और अधिक बिगड़ सकती है।

सरवनन, वी. (2006): इस अध्ययन का उद्देश्य मद्रास प्रेसीडेंसी के सलेम और बारा महल क्षेत्र के आदिवासी क्षेत्रों में 1872 से 1947 तक की औपनिवेशिक कृषि नीतियों का विश्लेषण करना था। लेखक ने तर्क दिया कि औपनिवेशिक अधिकारियों ने आदिवासी क्षेत्रों की स्थानीय परिस्थितियों और वन-आधारित अर्थव्यवस्था के आर्थिक महत्व को नजरअंदाज करते हुए, उनकी नीतियों को मैदानी इलाकों की कृषि व्यवस्था के समान लागू किया। इन नीतियों का मुख्य उद्देश्य अधिकतम भूमि राजस्व अर्जित करना था, जिसकी वजह से आदिवासी समुदायों के पारंपरिक जीवन और अर्थव्यवस्था पर गंभीर नकारात्मक प्रभाव पड़ा। अध्ययन ने 19वीं सदी के उत्तरार्ध से लेकर औपनिवेशिक शासन के अंत तक की अवधि के दौरान यह पाया कि इन नीतियों ने आदिवासी अर्थव्यवस्था को कमजोर कर दिया। इसका प्रमुख परिणाम यह हुआ कि आदिवासी समुदायों के भूमि और जंगलों पर अधिकार और पहुँच सीमित हो गए। इस विश्लेषण में यह भी पुष्टि की गई कि औपनिवेशिक कृषि नीति ने न केवल पारंपरिक आदिवासी प्रणाली को बाधित किया, बल्कि उनकी सामाजिक और आर्थिक संरचना को भी तोड़ा, जिससे वे वंचित और हाशिए पर धकेल दिए गए। अध्ययन के निष्कर्षों ने यह उजागर किया कि औपनिवेशिक विकास मॉडल में आदिवासी हितों की उपेक्षा किस प्रकार एक व्यवस्थित समस्या थी।

रसूल, जी. (2007) ने दक्षिण एशिया के पर्वतीय वन संसाधनों के क्षरण में मूल निवासियों की भूमिका पर अध्ययन किया। उनका उद्देश्य यह समझना था कि कैसे बाहरी हस्तक्षेप और नीतिगत प्रक्रियाओं ने वनों की स्थिति को प्रभावित किया। अध्ययन में यह पाया गया कि सदियों से मूल निवासियों ने वनों का सतत और संतुलित उपयोग किया था, परंतु पिछले दो शताब्दियों में बाहरी हस्तक्षेप और नीतिगत बदलावों ने वन संसाधनों पर विपरीत प्रभाव डाला। बांग्लादेश

के चटगांव हिल ट्रैक्ट्स (CHT) क्षेत्र के विश्लेषण में यह स्पष्ट हुआ कि वनों के क्षरण में स्थायी कृषि, बागवानी, रबर बागानों के लिए वन भूमि का निजीकरण, कर्णफुली नदी पर बांध निर्माण और क्षेत्रीय संघर्ष जैसे कारक शामिल थे। अध्ययन में यह भी रेखांकित किया गया कि CHT में वनों का नुकसान केवल पारंपरिक स्थानांतरण खेती के कारण नहीं था, बल्कि अनुपयुक्त नीतियों, बाहरी परियोजनाओं और स्थानीय समुदायों के साथ टकराव से भी जुड़ा था। रसूल के निष्कर्षों ने संकेत दिया कि वनों के संरक्षण के लिए पारंपरिक कृषि पद्धतियों की बजाय नीतिगत और सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रियाओं की गहन समझ आवश्यक है, ताकि भूमि और संसाधनों तक सभी की समान पहुंच और प्रबंधन सुनिश्चित किया जा सके।

शाह, ए. (2007) ने स्वदेशी लोगों, उनके अधिकारों और विकास के मुद्दों पर पिछले दो दशकों में अंतरराष्ट्रीय स्तर पर उभरी बहसों का विश्लेषण किया। अध्ययन का उद्देश्य भारत में स्वदेशीता की नृविज्ञान और इतिहासलेखन में उभरी बहसों और उनके प्रभावों की समीक्षा करना था। इसने "मन की जनजातियों" के विचार से लेकर अनुसूचित जनजाति या आदिवासी पहचान को प्रोत्साहन देने वाली नीतियों तक की चर्चा की। लेख ने यह दिखाया कि स्वदेशी लोगों के संरक्षण और आत्मसात के बीच लंबे समय से चल रहे तनाव ने भारत में आदिवासी राजनीति को कैसे प्रभावित किया। अध्ययन में यह पाया गया कि स्वदेशीता पर बहसें अक्सर दो धाराओं—मार्क्सवादियों और स्वदेशी कार्यकर्ताओं के बीच, तथा दूसरी तरफ हिंदू दक्षिणपंथियों के दृष्टिकोण—में केंद्रित रहीं। इसके अलावा, यह बताया गया कि स्वदेशी लोगों की सुरक्षा और विकास के लिए किए गए प्रयासों के अनपेक्षित प्रभाव भी सामने आए। लेख ने इस बहस को पारंपरिक तर्कों से परे ले जाने और स्वदेशी लोगों की अवधारणा के "अंधेरे पक्ष" के प्रति सतर्क रहने की जरूरत पर बल दिया। इसमें इस बात को उजागर किया गया कि कैसे स्थानीय स्तर पर किए गए विनियोग और वैश्विक प्रवचन कभी-कभी वर्गीय असमानता को बढ़ावा देते हैं और सबसे गरीब समुदायों को और अधिक हाशिये पर धकेलते हैं।

मरे ली, टी. (2007) ने अपने अध्ययन में सरकारी हस्तक्षेपों की जटिल संरचना का विश्लेषण किया था, जो विभिन्न तत्वों जैसे प्रवचन, संस्थाएँ, विशेषज्ञता के रूप और सामाजिक समूहों की कमियों को ठीक करने पर आधारित थी। अध्ययन का उद्देश्य यह समझना था कि इन विभिन्न तत्वों को जोड़ने और उनके बीच संबंध स्थापित करने के लिए किन प्रथाओं का पालन किया जाता है। मरे ली ने छह सामान्य प्रथाओं की पहचान की, जिनमें संरेखण बनाना, तकनीकी प्रदान

करना, ज्ञान को अधिकृत करना, विफलताओं का प्रबंधन करना, राजनीति-विरोधी दृष्टिकोण अपनाना और पुनः संयोजन शामिल थे। सामुदायिक वन प्रबंधन का विश्लेषण करते हुए, उन्होंने दिखाया कि कैसे यह संयोजन विभिन्न एजेंटों (ग्रामीणों, मजदूरों, उद्यमियों, वैज्ञानिकों आदि) और उद्देश्यों (लाभ, आजीविका, दक्षता आदि) को एक साथ लाने में सफल हुआ। शोध के निष्कर्ष बताते हैं कि यह संयोजन विभिन्न कार्यक्रमों में तीन दशक से अधिक समय तक कैसे सक्रिय रहा और कनाडा से लेकर इंडोनेशिया तक के कार्यक्रमों में भारी धन खर्च करने में सक्षम रहा। यह अध्ययन इन प्रथाओं के बीच की खाई को समझाने पर केंद्रित था जो शासन प्रक्रिया को जटिल बनाती हैं। मरे ली ने प्रथाओं का विश्लेषण करने पर जोर दिया, बजाय इसके कि इन समूहों की नैतिकता पर कोई निर्णय दिया जाए।

नॉरगार्ड, के.एम. (2007) ने "जैविक आक्रमण" के पारिस्थितिक और आर्थिक प्रभावों को उजागर करते हुए बताया कि ये महत्वपूर्ण सामाजिक मुद्दों को जन्म देते हैं। अध्ययन का उद्देश्य यह समझना था कि उत्तरी कैलिफ़ोर्निया के ग्रामीण क्षेत्र में करुक जनजाति, गैर-भारतीय समुदाय और अमेरिकी वन सेवा के सदस्यों ने शाकनाशियों के उपयोग को लेकर सुरक्षा और जोखिम की अलग-अलग धारणाएँ कैसे विकसित कीं। शोध में अवलोकन, साक्षात्कार और अभिलेखीय सामग्री का उपयोग कर इन धारणाओं को लिंग, नस्ल, संस्थागत विश्वास और जोखिम की निकटता से जोड़ा गया। अध्ययन के निष्कर्षों में पाया गया कि आक्रामक प्रजातियों के नियंत्रण में शाकनाशियों का उपयोग बढ़ा है, जिससे पर्यावरणीय और सामाजिक विवाद उत्पन्न हुए। अध्ययन ने यह उजागर किया कि जोखिम की धारणा में भिन्नताएँ, खासकर गरीब और नस्लीय अल्पसंख्यक समूहों के लिए, पर्यावरणीय न्याय के मुद्दे का रूप लेती हैं। करुक जनजाति और गैर-भारतीय समुदायों ने शाकनाशियों के बढ़ते उपयोग को लेकर सुरक्षा की चिंताओं को अलग-अलग तरीके से समझा, और इसका आधार लिंग व नस्ल था। इन समूहों ने जोखिम के प्रति अपने दृष्टिकोण को पर्यावरणीय अन्याय के संदर्भ में प्रस्तुत किया। अंततः, यह अध्ययन प्रजातियों के आक्रमण और शाकनाशी उपयोग से उत्पन्न सामाजिक और पर्यावरणीय न्याय के बड़े मुद्दों की ओर इशारा करता है, यह बताते हुए कि कौन इन जोखिमों की कीमत चुकाता है।

सैकिया (2008) के अध्ययन का उद्देश्य असम में किसानों द्वारा वन भूमि पर स्वामित्व की सुरक्षा के लिए किए गए आंदोलन और इसके सामाजिक-आर्थिक प्रभावों का विश्लेषण करना था। सैकिया ने बताया कि ऐतिहासिक रूप से असम में तेंग एनी के गरीब किसानों ने वन भूमि पर कब्जा कर खेती की, जिसे उन्होंने विभिन्न प्रवासन तरंगों के दौरान अपनी आजीविका का आधार

बनाया। इन जमीनों पर स्वामित्व की सुरक्षा की उनकी आकांक्षा ने कृषि संबंधी लामबंदी को जन्म दिया। अध्ययन में यह पाया गया कि इस संघर्ष ने किसानों और वन संरक्षण के बीच प्रतिस्पर्धी दावों को उजागर किया, जिससे प्रकृति पर मानव दखल का जटिल स्वरूप सामने आया। इस समस्या को और गंभीर बनाते हुए संघर्ष में विभिन्न वर्गों के लोग शामिल हुए, जिनमें व्यापारी, साहूकार, गरीब और मध्यम किसान, गैर-सरकारी संगठन, नौकरशाह और सरकारी प्रतिनिधि शामिल थे। अध्ययन ने बीटीयूएसएस और डीएमएसएस जैसे संगठनों के विकास और उनके बीच के अंतरों को चिह्नित किया, जो आंदोलन के बहुआयामी प्रकृति को दर्शाता है। सैकिया ने निष्कर्ष निकाला कि यह संघर्ष केवल भूमि और वन पर स्वामित्व तक सीमित नहीं था, बल्कि यह सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्तरों पर व्यापक प्रभाव डालने वाला था।

वांडेकरखोव, एन., और सुयकेन्स, बी. (2008) ने पश्चिमी असम में स्थित बोडोलैंड पर अध्ययन किया, जो 1980 के दशक के मध्य से उग्रवाद का केंद्र रहा। अध्ययन का मुख्य उद्देश्य असम में चल रहे संघर्षों, विशेषकर बोडोलैंड के मुद्दों, की जटिलताओं को समझना था। लेखकों ने तर्क दिया कि बोडोलैंड में समस्याओं को केवल प्रवासन के परिप्रेक्ष्य से समझने का प्रयास अपर्याप्त है। उन्होंने सुझाव दिया कि वानिकी और चाय बागान जैसी संरचनाओं ने आदिवासी समुदायों को फंसा दिया, जो अंततः संघर्ष और हिंसा का कारण बना। अध्ययन में पाया गया कि संघर्ष के दौरान इन आर्थिक और सामाजिक संरचनाओं पर नियंत्रण में बदलाव हुआ, जिसने समुदायों की आजीविका और संसाधनों तक पहुंच को बदल दिया। इस बदलाव ने पारंपरिक सामंजस्य को कमजोर किया और संघर्ष को और गहरा बना दिया। लेखकों ने बोडोलैंड प्रादेशिक परिषद (BTC) और बोडोलैंड प्रादेशिक प्रशासनिक जिला (BTAD) के तहत शांति प्रक्रिया के प्रतिबंधों और संभावनाओं का भी विश्लेषण किया। उन्होंने चेतावनी दी कि बोडो समुदाय को सहायता और सुरक्षा देने के प्रयासों से क्षेत्र के अन्य समुदायों को वंचित करने की संभावना पैदा हो सकती है। अध्ययन ने अंततः यह निष्कर्ष दिया कि हिंसा और संघर्ष का समाधान केवल एक समुदाय विशेष की समस्याओं पर ध्यान केंद्रित करके नहीं किया जा सकता, बल्कि क्षेत्र के सभी समुदायों के बीच समानता और संसाधन वितरण के व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता है।

रामनाथ (2008) ने अनुसूचित जनजाति और अन्य पारंपरिक वनवासी (वन अधिकारों की मान्यता) अधिनियम, 2006 पर गहन अध्ययन किया, जिसका उद्देश्य इस अधिनियम के पक्ष और विपक्ष में उपस्थित तर्कों का मूल्यांकन करना था। अध्ययन का मुख्य उद्देश्य अधिनियम के क्रियान्वयन में आने वाली बाधाओं और इसे आदिवासी भारत के संदर्भ में लागू करने की

व्यवहार्यता का विश्लेषण करना था। लेखक ने यह दर्शाया कि अधिनियम पारंपरिक वन अधिकारों की मान्यता के माध्यम से आदिवासी समुदायों को सशक्त बनाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रयास है, लेकिन इसके क्रियान्वयन के दौरान कई चुनौतियाँ उत्पन्न हुईं।अध्ययन में आदिवासी भारत में मौजूद विशिष्ट समस्याओं और वन संरक्षण संबंधी नीतियों पर प्रशासनिक तंत्र की प्रभावशीलता पर भी चर्चा की गई। यह पाया गया कि अधिनियम के क्रियान्वयन के लिए ग्राम सभाओं को अधिकार सौंपने में न केवल सीमाएँ थीं, बल्कि इससे वनों और संसाधनों की सही ढंग से देखभाल में भी बाधाएँ उत्पन्न हो सकती थीं। लेखक ने उन क्षेत्रीय मुद्दों पर प्रकाश डाला जो पारंपरिक संरक्षण प्रणालियों और आदिवासी अधिकारों के बीच उत्पन्न होते हैं। निष्कर्ष के रूप में, लेखक ने सुझाव दिया कि अधिनियम को सफल बनाने के लिए सामाजिक, प्रशासनिक, और क्षेत्रीय समस्याओं को संबोधित करना आवश्यक है। उन्होंने यह भी रेखांकित किया कि वनों और समुदायों के अधिकारों के संतुलन के लिए अधिक समग्र और समावेशी दृष्टिकोण की आवश्यकता थी।

ज्यूइट, एस. (2008) ने अपने अध्ययन में झारखंड आंदोलन को एक जटिल संघर्ष के रूप में प्रस्तुत किया, जिसमें जातीय और पर्यावरणीय मुद्दे अलग-अलग समय पर स्पष्ट रूप से सामने आए। अध्ययन का उद्देश्य राजनीतिक पारिस्थितिकी दृष्टिकोण से झारखंड आंदोलन की जांच करना और प्राकृतिक संसाधनों से जुड़ी शिकायतों, जैसे भूमि विस्थापन, वन नीति और खनन से संबंधित रोजगार, के कारण उत्पन्न हिंसा का विश्लेषण करना था। शोध के निष्कर्षों में यह पाया गया कि स्थानीय स्तर पर प्राकृतिक संसाधनों को लेकर होने वाले संघर्ष अक्सर व्यापक शिकायतों का रूप ले सकते हैं, जो राजनीतिक रूप से संगठित होकर हिंसक विरोध आंदोलन का हिस्सा बन जाते हैं। ज्यूइट ने सूक्ष्म-राजनीतिक पारिस्थितिकी दृष्टिकोण को अपनाने की सिफारिश की, जिससे यह समझने में मदद मिल सके कि स्थानीय संघर्ष व्यापक और हिंसक हो सकने वाले विरोध में कैसे परिवर्तित होते हैं। उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि संसाधन प्रबंधन में सामुदायिक भागीदारी की पहल स्थानीय संघर्षों को शांत करने में सहायक हो सकती है, जिससे बड़े पैमाने पर हिंसा को रोका जा सके। यह शोध प्राकृतिक संसाधनों के प्रबंधन और झारखंड जैसे क्षेत्रों में न्यायपूर्ण विकास नीतियों की आवश्यकता पर बल देता है।

सुयकेन्स, बी. (2009) ने अपने अध्ययन में भारत में आदिवासियों और वनों के बीच संबंधों पर दो परस्पर विरोधी आख्यानों की जांच की थी, जो औपनिवेशिक काल से ही मौजूद थे। इस अध्ययन का उद्देश्य यह विश्लेषण करना था कि आदिवासी समुदायों को "वनों के प्राकृतिक

रक्षक" के रूप में देखा गया या उनकी प्रथाओं को "वन संरक्षण के लिए हानिकारक" बताया गया और यह किस प्रकार भारतीय वन कानून और सामाजिक संरचनाओं को प्रभावित करता है। लेख में यह दर्शाया गया कि भारतीय वन कानून में इन दोनों दृष्टिकोणों की गहरी पैठ है। अध्ययन से यह निष्कर्ष निकला कि कैसे स्थानीय अधिकारी, आदिवासी और अधिकार कार्यकर्ता अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इन विरोधाभासी आख्यानों का रणनीतिक उपयोग करते थे। यह पाया गया कि इन आख्यानों का प्रभाव आदिवासियों के वन संसाधनों तक पहुंच और उनके अधिकारों को तय करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा। सुयकेन्स ने निष्कर्ष निकाला कि ये विरोधाभासी आख्यान केवल आदिवासियों और वनों के संबंधों को जटिल बनाते हैं बल्कि स्थानीय और कानूनी प्रणालियों पर भी प्रभाव डालते हैं।

हरीशा, एमके, और रानी, एम. (2009) ने अपने अध्ययन में ब्रिटिश काल से पश्चिमी घाटों में वनों के आरक्षण और प्राकृतिक संसाधनों के व्यावसायिक चैनलाइजेशन के प्रभावों की जांच की। उनका उद्देश्य यह था कि वे यह समझ सकें कि कैसे बाजार की बढ़ती व्यावसायिक मांगों के कारण वनों की नष्ट-भ्रष्टता ने आदिवासी समुदायों की आजीविका पर नकारात्मक प्रभाव डाला। अध्ययन में पाया गया कि इन नीतियों ने आदिवासियों को अपने पारंपरिक जीवन और संसाधनों से वंचित कर दिया। उन्हें अतिक्रमणकारी के रूप में देखा गया और वनों से बेदखल करने के लिए उन्हें नोटिस जारी किए गए। इससे आदिवासी समुदायों का आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन संकट में पड़ गया। आदिवासियों ने अपने पारंपरिक अधिकारों की रक्षा के लिए आवाज उठाई, जिसके परिणामस्वरूप पर्यावरणीय और आदिवासी आंदोलन उभरे। यह आंदोलनों ने भूमि और वन संसाधनों पर उनके अधिकारों की मांग की। वन अधिकार अधिनियम-2006 के परिणामस्वरूप आदिवासियों को कुछ राहत मिली, जिससे उन्हें वन संसाधनों पर अधिकार और सुरक्षा प्रदान की गई। यह अध्ययन इस बात को रेखांकित करता है कि आदिवासी अधिकारों की रक्षा और विकास मॉडल के बीच संतुलन बनाना अत्यंत आवश्यक है।

कुमार, एस. (2009, सितंबर) ने अपने अध्ययन में ब्रिटिश शासन के तहत भारत में वन कानूनों के विकास और उनके प्रभावों का विश्लेषण किया। अध्ययन का उद्देश्य गुजरात राज्य के आदिवासी क्षेत्र में लागू वन कानूनों, उनके परिवर्तन और प्रभावों की जांच करना था, साथ ही यह भी समझना था कि इन कानूनों ने क्षेत्रीय नियोजन और आदिवासी आबादी पर कैसे प्रभाव डाला। कुमार ने यह बताया कि ब्रिटिश शासन के दौरान 1878 में प्रारंभिक वन कानूनों की स्थापना हुई,

जिसके बाद भारतीय वन अधिनियम, 1927 ने वाणिज्यिक वन उपयोग को बढ़ावा दिया और स्थानीय लोगों के निर्वाह के अधिकारों पर अंकुश लगाया। स्वतंत्रता के बाद, भारतीय सरकार ने 1952, 1980 और 2006 में वन नीति और अन्य कानूनों के माध्यम से वन अधिकारों में बदलाव किए, जो पहले वनवासियों के प्रथागत अधिकारों को नकारते थे, बाद में यह अपने स्वयं के उपयोग के लिए खेती और वन उपज के उपयोग की अनुमति देने के रूप में बदल गया। गुजरात राज्य ने विशेष रूप से इस क्षेत्र में राज्य कानूनों के माध्यम से आदिवासी क्षेत्र के प्रशासन को नियंत्रित करने का प्रयास किया। अध्ययन में प्राथमिक साक्षात्कार और द्वितीयक डेटा विश्लेषण का उपयोग किया गया और यह दर्शाया गया कि इन कानूनों ने आदिवासी समुदायों पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला।

थाय्यिल, एन. (2009) के अध्ययन का उद्देश्य भारतीय न्यायिक इतिहास में एक विशिष्ट मामले की समस्याग्रस्त प्रक्रियाओं की जांच करना था, जिसमें सर्वोच्च न्यायालय ने तय किया कि देश में वन संसाधनों तक पहुंच किसे प्राप्त होनी चाहिए और कैसे। यह मामला राष्ट्रीय वन-कानूनों के 'स्पष्टीकरण और सुधार' के माध्यम से पर्यावरण की रक्षा के लिए किया गया था, जिसने लाखों सीमांत समूहों के जीवन, आजीविका और आवास को गंभीर रूप से प्रभावित किया। अध्ययन ने यह बताया कि संविधानिक न्यायालयों की प्रवृत्ति न्यायनिर्णयन, प्रशासन और कानून की भूमिकाओं को संभालने की रही, जिससे वे परस्पर विरोधी सार्वजनिक हितों का निर्माण करने वाले समस्याग्रस्त स्थल बन गए। यहाँ पर पर्यावरण की सुरक्षा और न्याय - सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक मूल्य एक-दूसरे के खिलाफ खड़े होते हैं। इस प्रकार, अदालतें सतत विकास के वैध परिसर को परिभाषित करती हैं और उसे 'रोजमर्रा की वास्तविकता' में लागू करती हैं, जो कभी-कभी इसके वैधानिक सार से भटक सकता है। इस लेख में इस समकालीन वन प्रशासन प्रक्रिया का विश्लेषण किया गया है, जो पर्यावरणीय न्याय और सामाजिक-आर्थिक न्याय के बीच संतुलन की चुनौती को दर्शाता है।

हंट्सिंगर, एल., और डाइकमैन, एल. (2010) ने अपने अध्ययन में, स्वदेशी आबादी के अधिकारों की रक्षा और उनके साथ किए गए अन्याय की विस्तृत चर्चा की थी। इस अध्ययन का उद्देश्य विजय के बाद स्वदेशी लोगों की "मदद" करने के लिए की गई प्रमुख भारतीय भूमि-नीति पहलों का विश्लेषण करना था। इसमें वितरण न्याय की अवधारणा का उपयोग करते हुए, लेख ने युरोक भारतीय आरक्षण में भूमि स्वामित्व और संसाधनों पर इन नीतियों के प्रभावों का

मूल्यांकन किया। यह अध्ययन यह बताता है कि पिछले 150 वर्षों में युरोक भूमि और संसाधनों के संरक्षण के लिए अपनाई गई नीतियाँ कितनी न्यायसंगत रही हैं, और भूमि दावों के नक्शे इन नीति पहलों के प्रभावों का दृश्य प्रतिनिधित्व प्रदान करते हैं। लेख में यह निष्कर्ष निकाला गया था कि इन नीतियों के परिणामस्वरूप भूमि विखंडन और पारिस्थितिकी प्रणालियों का नुकसान हुआ है, जो आदिवासी लोगों और पारिस्थितिकी की बहाली को गंभीर रूप से प्रभावित करता है। अंत में, लेख में यह तर्क किया गया कि प्राकृतिक संसाधनों से संबंधित निर्णय लेने में केवल कुछ लोगों के अधिकारों को ही नहीं, बल्कि समग्र भलाई को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। साथ ही, भूमि पर जनजातीय अधिकार और वितरणात्मक न्याय के संदर्भ में पारिस्थितिक स्थिरता को शामिल करना चाहिए।

कुमार, केए, और रेड्डी, एमजी (2010) ने अपने अध्ययन में आंध्र प्रदेश राज्य के आदिवासी समुदायों की स्थिति और उनके सामाजिक-आर्थिक गतिशीलता पर राज्य की नीतियों के प्रभाव का विश्लेषण किया। अध्ययन का उद्देश्य आदिवासी समुदाय की राजनीतिक और आर्थिक स्थिति को समझना और यह देखना था कि सरकारी नीतियों, विशेष रूप से वन अधिकार अधिनियम, 2006 का आदिवासी समुदाय की आजीविका और समावेशिता पर क्या प्रभाव पड़ा है। इसके निष्कर्षों में यह पाया गया कि आंध्र प्रदेश के आदिवासी समुदाय अत्यधिक पिछड़े हुए हैं और गंभीर आर्थिक बहिष्कार का सामना करते हैं। इस समुदाय के पास संसाधनों, भूमि और गैर-लकड़ी वन उत्पादों पर कानूनी अधिकार की कमी के कारण उनकी आजीविका असुरक्षित रहती है। हालाँकि सरकार ने इस समुदाय के लिए कुछ संवैधानिक सुरक्षा उपायों का प्रावधान किया है, फिर भी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक गतिशीलता में कोई महत्वपूर्ण सुधार नहीं हुआ है। अनुसूचित जातियों और अन्य पिछड़ी जातियों की तुलना में आदिवासी समुदाय अधिक पिछड़ा हुआ है और उन्हें सामाजिक बहिष्कार का सामना करना पड़ता है। अध्ययन में यह भी दर्शाया गया कि वन अधिकार अधिनियम, 2006 का आदिवासी समुदाय की जीवन गुणवत्ता पर सीमित प्रभाव पड़ा है, और यह अभी तक इन्हें मुख्यधारा में पूर्ण रूप से समाहित करने में सक्षम नहीं हो पाया है।

झा, एस. (2010) के अध्ययन का उद्देश्य भारत में वन संघर्षों और आंदोलनों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और उनके प्रभावों का विश्लेषण करना था। लेखक ने बताया कि इन संघर्षों का मूल उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष की समृद्ध परंपरा में था, विशेष रूप से उत्तर बंगाल में वन आंदोलनों

का इतिहास 1960 के दशक से शुरू हुआ था। इसके बावजूद, इन आंदोलनों के ईमानदार प्रयासों के बावजूद, वनवासियों की आजीविका में सुधार नहीं हुआ, बल्कि समस्याएं बढ़ती गईं। 1972 का वन्यजीव अधिनियम और 1980 का वन संरक्षण अधिनियम ने वन अधिकारियों के नियंत्रण को और सख्त किया। 1990 के दशक में संयुक्त वन प्रबंधन कार्यक्रम शुरू किया गया था, जो उम्मीदों के मुताबिक सफलता नहीं प्राप्त कर सका, और यह संवेदनशील समुदायों के लिए आर्थिक सशक्तिकरण में नाकाम रहा। इसके पश्चात, 2000 में वनवासियों के भूमि और आजीविका के अधिकारों के लिए आंदोलन शुरू हुआ। 2006 में वन अधिकार अधिनियम की अधिसूचना के बाद इस आंदोलन को गति मिली, लेकिन इस अधिनियम का पक्षपाती कार्यान्वयन संघर्ष का मुख्य कारण बना। इस आलेख में लेखक ने इस आंदोलन के वर्षों से बदलते फोकस और महत्व का विश्लेषण किया, और यह प्रदर्शित किया कि इन संघर्षों में अनगिनत बाधाएं और कठिनाइयां रही हैं, बावजूद इसके यह महत्वपूर्ण कदम साबित हुआ।

डैश, टी. (2010) ने भारत के उड़ीसा राज्य में वन अधिकार अधिनियम के कार्यान्वयन पर आधारित विभिन्न क्षेत्रीय अनुभवों का अध्ययन किया। अध्ययन का उद्देश्य था, इस अधिनियम के तहत वन समुदायों के भूमि स्वामित्व और पहुँच अधिकारों को सुरक्षित करना, साथ ही अधिकार आधारित संरक्षण ढाँचे को स्थापित करना, जो इन समुदायों के पारंपरिक अधिकारों की मान्यता, निर्धारण प्रक्रिया और स्थानीय सामुदायिक संस्थाओं के सशक्तिकरण पर ध्यान केंद्रित करता था। उन्होंने पाया कि इस अधिनियम ने वन समुदायों के उपयोग, पहुँच और संरक्षण प्रथाओं की विविधता को मान्यता देने की क्षमता दी है, जिससे वनों और जैव विविधता के संरक्षण में योगदान हुआ। अध्ययन में यह भी उल्लेख किया गया कि स्थानीय सामुदायिक संस्थाओं को सशक्त बनाना और उनके अधिकारों की मान्यता ने समुदायों को बाहरी खतरों से निपटने और अपनी स्वतंत्र प्रबंधन प्रणाली विकसित करने में सक्षम बनाया। हालांकि अधिनियम के कार्यान्वयन में कुछ चुनौतियाँ और समस्याएँ सामने आईं, फिर भी इसे भारत में वन प्रबंधन के वर्तमान और भविष्य के कानूनी ढाँचे, नीति और अभ्यास का अविभाज्य हिस्सा माना जाना चाहिए।

सैंडब्रुक, सी., नेल्सन, एफ., एडम्स, डब्ल्यू.एम., और अग्रवाल, ए. (2010) ने अपने अध्ययन में वनों के संरक्षण और जलवायु परिवर्तन में उनकी भूमिका पर ध्यान केंद्रित किया। अध्ययन का उद्देश्य यह समझना था कि स्थानीय वन शासन विकेंद्रीकरण के माध्यम से वनों की कटाई और वन क्षरण (REDD) के माध्यम से होने वाले उत्सर्जन को कम करने में केंद्रीय सरकार की

नीतियों से अधिक प्रभावी हो सकता है। इसके निष्कर्षों ने यह सिद्ध किया कि विकेंद्रीकृत वन शासन राज्य-आधारित केंद्रीकृत शासनों की तुलना में कम लागत पर अधिक प्रभावी हो सकता है, बशर्ते कि स्थानीय अधिकार और क्षमता को मजबूत किया जाए। अध्ययन में यह भी पाया गया कि इस प्रक्रिया से बायोमास और कार्बन भंडारण में सुधार संभव है, और यह गरीब समुदायों के लिए आर्थिक लाभ प्रदान कर सकता है। हालांकि, सैंडब्रुक और उनके साथियों ने यह भी रेखांकित किया कि ऐसे सुधारों का अक्सर राजनीतिक विरोध होता है, विशेषकर उन क्षेत्रों में जहां वन संसाधनों का आर्थिक मूल्य अधिक होता है और केंद्र सरकार के निकाय अधिक लाभ प्राप्त करते हैं। उनका निष्कर्ष यह था कि REDD नीतियों को डिज़ाइन करते वक्त स्थानीय वन प्रशासन के महत्व और राजनीतिक-आर्थिक बाधाओं को ध्यान में रखते हुए, वन संसाधनों के मूल्य में वृद्धि के कारण केंद्रीकरण और स्थानीय अधिकारों की समस्याएं उत्पन्न हो सकती हैं।

बोस, पी. (2011) ने अपने अध्ययन में यह लक्ष्य निर्धारित किया कि वे वन काश्तकारी सुधारों में मौजूदा रुझानों की पहचान करें, विशेष रूप से स्वदेशी लोगों को बढ़ावा देने वाले दृष्टिकोण की समझ विकसित करें, जो यह मानता है कि इससे हाशिए के समूहों को वन संसाधनों तक बेहतर पहुंच मिलती है। इस अध्ययन ने भारत के ऐतिहासिक वन अधिकार अधिनियम (2006) की समीक्षा की, जो अनुसूचित जनजातियों और अन्य वन-आश्रित लोगों के पारंपरिक अधिकारों को मान्यता देता है। अध्ययन ने राजस्थान के अर्ध-शुष्क बांसरी जिले में भील आदिवासी महिलाओं के राजनीतिक प्रतिनिधित्व की जांच की और यह समझने का प्रयास किया कि कैसे वनभूमि तक उनकी पहुंच और सामूहिक निर्णय लेने में समावेशन/बहिष्करण होता है। इसके लिए 54 मुखबिरों के साथ गहन साक्षात्कार और दो फोकस समूह चर्चाएं की गईं, जिससे डेटा एकत्रित किया गया। अध्ययन ने अधिकार-आधारित पहुंच दृष्टिकोण का उपयोग करते हुए वन काश्तकारी सुधारों के परिणामों का विश्लेषण किया। अध्ययन के निष्कर्षों से यह पता चला कि स्वदेशी महिलाओं के लिए वनभूमि प्रबंधन में उनके राजनीतिक प्रतिनिधित्व का सीमित प्रभाव था और उनके अधिकारों के साथ समान अवसर प्रदान करने में संरचनात्मक बाधाएं थीं, जो उनके विकास के रास्ते में अवरोध साबित हुईं।

बोस, पी. (2011) ने अपने अध्ययन में वन पट्टा सुधार के वर्तमान चलन को पहचाना और यह बताया कि यह सुधार स्वदेशी लोगों जैसे हाशिए पर पड़े समूहों को पट्टा अधिकारों तक बेहतर पहुँच प्रदान करने में मदद करता है। उनके अध्ययन का उद्देश्य राजस्थान के अर्ध-शुष्क आदिवासी जिले बत्स्वाना में भील आदिवासी महिलाओं के लिए वनभूमि तक पहुँच की राजनीति

का विश्लेषण करना था। यह शोध वन अधिकार अधिनियम 2006 के लागू होने के बाद आदिवासी महिलाओं की वनभूमि तक पहुँच पर केंद्रित था। अध्ययन के लिए 54 प्रमुख सूचनादाताओं के साथ गहन साक्षात्कार और दो केंद्रित समूह चर्चाओं का उपयोग किया गया था। इसके माध्यम से वन पट्टा सुधार के समावेशन और बहिष्करण पर ध्यान केंद्रित करते हुए अधिकार-आधारित पहुँच दृष्टिकोण को अपनाया गया था। शोध के परिणाम के रूप में यह सामने आया कि वनपट्टा सुधारों ने आदिवासी महिलाओं की वनभूमि पर पहुँच में महत्वपूर्ण बदलाव किए थे, लेकिन कुछ विषमताएँ और सामाजिक-आर्थिक बाधाएँ अभी भी मौजूद थीं, जिनके कारण समाज के कमजोर वर्गों के लिए इन सुधारों का प्रभाव सीमित था। इस अध्ययन ने यह दर्शाया कि वन पट्टा सुधारों की नीति में सुधार के लिए सामाजिक-आर्थिक बाधाओं को दूर करना महत्वपूर्ण है ताकि आदिवासी और वन-आश्रित समुदायों को उनका अधिकार मिल सके।

गोछायात, एस.ए. (2011) ने अपने अध्ययन में आदिवासी समुदायों के वन अधिकारों के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और वन अधिकार अधिनियम 2006 (FRA) पर विश्लेषण किया है। अध्ययन का उद्देश्य यह था कि आदिवासी और पारंपरिक वनवासी समुदायों को उनके वन और भूमि अधिकारों की मान्यता देने के लिए बने FRA के कानूनी ढांचे को समझा जाए और यह पता लगाया जाए कि कैसे यह अधिनियम आदिवासी समाज द्वारा सहन किए गए ऐतिहासिक अन्याय को दूर करने में मदद करता है। इसके निष्कर्षों से यह स्पष्ट हुआ कि औपनिवेशिक शासन के दौरान आदिवासी लोगों को उनके वन अधिकारों से वंचित कर दिया गया था, और उन्हें उनकी पुश्तैनी भूमि से बेदखल किया गया था। औपनिवेशिक शासन ने खनन, विकास परियोजनाओं और औद्योगिकीकरण के नाम पर आदिवासी भूमि को हड़प लिया था और उन्हें ठीक से मुआवजा तक नहीं दिया गया। इसके बावजूद, वन अधिकार अधिनियम 2006 ने इन समुदायों को एक कानूनी ढांचा प्रदान किया, जो उन्हें उनके वन अधिकारों का पुनः अस्तित्व और धार्मिक, सांस्कृतिक अधिकारों की सुरक्षा सुनिश्चित करता है। इस अधिनियम का उद्देश्य आदिवासी समुदायों को उनके पारंपरिक वन संसाधनों पर कब्जा दिलाना था, जिससे उन्हें विकास और सामाजिक न्याय की प्रक्रिया में समान स्थान मिल सके।

सव्यसाची (2011) के निबंध में यह तर्क प्रस्तुत किया गया था कि वन अधिकार अधिनियम (FRA) 2006 को श्रम उद्देश्य के सिद्धांतों पर आधारित किया गया है, जो वनों की आधारभूत स्थिति को कमजोर करता है। लेखक ने कहा था कि यह अधिनियम वनों को मुनाफे का खेल बनाने की दिशा में काम करता है और इसके परिणामस्वरूप आदिवासी और वनवासियों के

हितों को न्यूनतम रूप से सुरक्षित किया जाता है। लेखक ने पहले श्रम उद्देश्य की बुनियादी विशेषताओं और इसके ऐतिहासिक संदर्भ में आधारभूत स्थिति की धारणा का वर्णन किया था। इसके बाद, निबंध में भारत में श्रम उद्देश्य की ऐतिहासिक प्रक्रिया और वन पर इसके प्रभाव को विस्तार से बताया गया था, कि FRA 2006 को पूंजीवाद के विकास के लिए स्थापित किया गया था और इसने वनों की आधारभूत स्थिति को नष्ट करते हुए उन्हें पारिस्थितिक सेवाएं प्रदान करने वाला बना दिया। इस अधिनियम ने वनों को एक व्यापारिक संसाधन बना दिया था, जिसका असर हाशिए पर पड़े समुदायों की सामाजिक और पारिस्थितिकीय स्थिति पर पड़ा था। इसलिए, इस अध्ययन में यह निष्कर्ष निकाला गया था कि FRA 2006 का उद्देश्य वनों के संरक्षण के बजाय, पूंजीवादी हितों को बढ़ावा देना था।

कुमार, के., और केर, जे.एम. (2012) ने लोकतांत्रिक राजनीति में हाशिए पर पड़े वर्गों और अल्पसंख्यकों के समावेश पर अपने अध्ययन में, "अनुसूचित जनजाति और अन्य पारंपरिक वनवासी (अधिकारों की मान्यता) अधिनियम, 2006" पर चर्चा की, जिसे हाशिए पर पड़े वनवासियों के अधिकारों के प्रति उनकी मान्यता के लिए पारित किया गया था। इस अध्ययन का उद्देश्य यह दिखाना था कि किस प्रकार हाशिए पर पड़े समुदायों के प्रतिनिधियों ने भारतीय लोकतंत्र की प्रक्रियाओं के माध्यम से अपनी आवाज़ उठाई और "वन अधिकार कानून" जैसे बदलाव संभव बनाए। अध्ययन ने यह पाया कि जमीनी स्तर के संगठनों ने अलग-अलग स्थानों और पैमानों पर एकजुट होकर नेटवर्क तैयार किया, जिसके माध्यम से सफलतापूर्वक लोकतांत्रिक राजनीति से बातचीत की और इस कानून को पारित करवाया। लेख ने यह निष्कर्ष निकाला कि हाशिए पर पड़े समुदायों की आवाज़ों और मांगों को प्रतिनिधि लोकतंत्र के दायरे में जोड़ने के लिए जमीनी स्तर पर सक्रिय रूप से लामबंदी करने का प्रभावी तरीका है। इसने वैधता के वैकल्पिक विमर्श बनाने, स्थानिक नेटवर्किंग और लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व के स्थानों का उपयोग करके, हाशिए पर पड़े लोगों के लिए लक्ष्यपूर्ण बदलाव प्राप्त करने की प्रक्रियाओं को स्पष्ट किया।

बलिल्ला, वी.एस., अनवर- मचेनरी, जे., मचेनरी, एम.पी., पार्किंसन, आर.एम., और बनल, डी.टी. (2012) ने अपने अध्ययन में मारिवेल के ऐटा मैनबुन खाड़ी के किनारे पर और फिलीपींस के लूजोन द्वीप पर बाटान प्रांत के बचे हुए जंगलों में बसने वाले ऐटा जनजाति के स्वदेशी लोगों की सांस्कृतिक प्रणालियों और पारंपरिक वन संसाधन उपयोग का वर्णन किया। अध्ययन का उद्देश्य ऐटा मैनबुन जनजाति की अद्वितीय सांस्कृतिक और भाषाई प्रणालियों के

साथ-साथ पारंपरिक वन संसाधन उपयोग और गैर-स्वदेशी लोगों द्वारा उनके पैतृक भूमि पर अतिक्रमण के बाद विकसित नई निर्वाह प्रथाओं पर गौर करना था। अध्ययन में यह पाया गया कि ऐटा जनजाति के लोग अपने पारंपरिक वन संसाधन उपयोगों का पालन करते हुए, सामाजिक, सांस्कृतिक और पर्यावरणीय समस्याओं का समाधान करने के लिए नई निर्वाह पद्धतियाँ अपना रहे थे। हालांकि, भूमि पर बाहरी लोगों का अतिक्रमण और पारंपरिक तरीकों का कमजोर होना उनके जीवन यापन में बड़ी चुनौती बन गया था। शोध के निष्कर्षों से यह स्पष्ट हुआ कि, ऐटा समुदायों ने अपने पर्यावरणीय और सांस्कृतिक परिवर्तनों के बावजूद स्थिर स्वदेशी विकास और संरक्षण प्रथाओं का पालन किया, जिससे उनकी जीवनधारा संरक्षित रही, हालांकि बाहरी दबावों के कारण उन्हें और संघर्षों का सामना करना पड़ा।

ओरांव, वी. (2012) ने अपने अध्ययन में यह उद्देश्य रखा था कि ओडिशा के संदरच जिले के आदिवासी बहुल गाँव में आजीविका के पारंपरिक पैटर्न और उनके बदलते परिदृश्य का विश्लेषण किया जाए। अध्ययन में यह पाया गया कि भारत में 1990 के दशक से होने वाले तेज़ बदलावों ने ग्रामीण और आदिवासी दोनों ही परिवारों की आजीविका प्रणालियों को अस्थिर किया है। कृषि और वन संसाधन पर आधारित पारंपरिक आजीविका अब लगातार अस्थिर हो रही थी। ब्रिटिश काल में ग्रामीणों की आजीविका मुख्यतः वन संसाधनों पर निर्भर थी, लेकिन समय के साथ औद्योगिकीकरण, जनसंख्या वृद्धि और बाहरी हस्तक्षेप के कारण इन संसाधनों में कमी आई। उनके द्वारा एकल फसल प्रणाली पर आधारित खेती और वन संसाधनों का उपभोग उनकी बढ़ती जरूरतों को पूरा करने में असफल हो गया। परिणामस्वरूप, उन्हें अपनी आजीविका के लिए वैकल्पिक साधन ढूँढने के लिए मजबूर होना पड़ा। इस बदलाव के कारण, शुरुआती समय में केवल कृषि ही उनके लिए आजीविका का स्रोत थी, लेकिन छोटे जोत और पारंपरिक तकनीकों की सीमाओं के कारण लोग अब जलाऊ लकड़ी इकट्ठा करने के लिए लंबी दूरी तय करने लगे और विभिन्न छोटे उद्योगों में खुद को लगा लिया। अध्ययन क्षेत्र के अधिकांश युवा गैर-कृषि क्षेत्र में सक्रिय हो गए थे।

बोस, पी. (2013) ने यह अध्ययन किया कि कैसे नया अनुसूचित जनजाति और अन्य पारंपरिक वन निवासी (वन अधिकारों की मान्यता) अधिनियम 2006 जनजातीय भारत में वन भूमि अधिकारों पर आदिवासी परिवारों के दावों को आकार देता है। अध्ययन का उद्देश्य वन अधिकार अधिनियम की सूक्ष्म गतिशीलता को समझना था, जिसमें तीन प्रमुख आयामों का उपयोग किया गया था: व्यक्तिगत भूमि अधिकार, नागरिकता, और संघर्ष। इन आयामों के माध्यम से अध्ययन

ने घरेलू स्तर पर वन भूमि अधिकारों के विवादित स्वरूप का विश्लेषण किया। यह अध्ययन राजस्थान के बत्स्वाना जिले के छह भील आदिवासी गांवों से प्राप्त गहन अर्ध-संरचित साक्षात्कारों के आधार पर किया गया था। निष्कर्ष यह दर्शाते हैं कि वन भूमि सुधार ने वन अधिकार दावों के वैयक्तिकरण को बढ़ावा दिया, जिसके कारण भील आदिवासी समुदायों में अंतर-घरेलू स्तर के संघर्षों में वृद्धि हुई। इसके अलावा, यह पाया गया कि परिवारों के वन भूमि दावे मुख्य रूप से उनके नागरिकता अधिकारों की औपचारिक मान्यता से संबंधित हैं। इस अध्ययन ने यह स्पष्ट किया कि आदिवासी परिवारों का वन भूमि पर दावा उनके अधिकारों की औपचारिक मान्यता से गहरे तरीके से जुड़ा हुआ है, और इसने इन अधिकारों के संघर्ष को एक व्यक्तिगत और राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया।

स्प्रिंगेट-बैगिंस्की, ओ., सरीन, एम., और रेड्डी, एमजी (2013) ने अपने अध्ययन का उद्देश्य भारत के वन अधिकार अधिनियम 2006 की कार्यान्वयन प्रक्रियाओं का मूल्यांकन करना और आंध्र प्रदेश में स्थानीय समुदायों द्वारा इस अधिनियम के प्रावधानों तक पहुँचने की स्थितियों का पता लगाना था। उनका अध्ययन विशेष रूप से इस बात की जांच करता है कि कैसे ग्रामीण लोग और विशेष रूप से अनुसूचित जनजातियां इस अधिनियम के तहत वन भूमि अधिकारों को प्राप्त करने में सक्षम हुए हैं, और किन राजनीतिक-आर्थिक संघर्षों का सामना करना पड़ा है। फील्डवर्क के आधार पर (2010), उन्होंने यह पाया कि स्थानीय स्तर पर वन अधिकारों के अधिग्रहण में कई कठिनाइयाँ और कमज़ोरियाँ थीं, जो मुख्य रूप से राज्य सरकार और वन विभाग के कर्मचारियों द्वारा की जाने वाली कानूनी प्रक्रिया में बाधाओं के कारण थीं। विशेष रूप से, अध्ययन में यह पाया गया कि आंध्र प्रदेश वन विभाग ने लोकतांत्रिक जनादेश और निगरानी प्रक्रियाओं में हस्तक्षेप किया और इससे स्थानीय स्तर पर आदिवासी अधिकारों की रक्षा में बाधाएँ उत्पन्न हुईं। इससे निष्कर्ष निकाला गया कि आंध्र प्रदेश वन विभाग अपनी शक्ति और नियंत्रण बनाए रखने के लिए लोकतांत्रिक नियंत्रण और निगरानी के सामान्य मानकों से परे कार्य कर रहा था, जो स्थानीय लोगों के अधिकारों के आदान-प्रदान में बाधक था।

केनेडी, जे., और किंग, एल. (2013) ने भारतीय आदिवासी क्षेत्रों में माओवादी विद्रोह की बढ़ती गतिविधियों का अध्ययन किया। इस शोध का उद्देश्य यह समझना था कि माओवादी विद्रोह केवल उन क्षेत्रों में क्यों फैल रहा है, जहां आदिवासियों को उनकी ज़मीन से बेदखल नहीं किया गया है, बल्कि जहां उनके पास अपनी ज़मीन पर नियंत्रण बना हुआ है। इस अध्ययन में एक अद्वितीय जिला-स्तरीय डेटासेट का उपयोग किया गया, जिससे यह निष्कर्ष निकला कि

विद्रोह का प्रसार उस इलाके में सबसे अधिक होता है, जहां आदिवासियों के पास अपनी ज़मीन और संसाधनों पर नियंत्रण होता है। इसके बाद, दंतेवाड़ा जिले के गहन विश्लेषण से यह सिद्ध हुआ कि आदिवासियों की शिकायतें, औपनिवेशिक संघर्ष और नव-औपनिवेशिक राज्य के जंगलों और वन संसाधनों पर नियंत्रण की आकांक्षाओं से जुड़ी हुई थीं। इस अध्ययन के निष्कर्षों ने यह भी दर्शाया कि विद्रोही नेता, जो मूल रूप से गैर-आदिवासी थे, आदिवासियों के लिए ऐसे शब्दों में विद्रोह को प्रस्तुत करने की कोशिश करते थे, जो उनके लिए समझ में आते थे। हालांकि, कुछ आदिवासी विद्रोह का विरोध करते थे क्योंकि यह उनके पारंपरिक सामाजिक ढांचे को कमजोर कर रहा था, जबकि कुछ विद्रोह की प्रक्रिया के शॉर्ट-टर्म लाभों के कारण इसे समर्थन करते थे। शोधकर्ताओं ने यह निष्कर्ष निकाला कि विद्रोह में आदिवासियों की भागीदारी को समझने के लिए, विद्रोहियों और उनके समर्थक आधार के बीच जटिल और गतिशील संबंधों पर ध्यान केंद्रित करना जरूरी था।

कृष्णन, जे., और जॉर्ज, ए. (2014) ने अपने अध्ययन में जल संसाधनों के अत्यधिक दोहन और उनकी असमान पहुंच को जल न्याय की दृष्टि से संबोधित किया। उनका उद्देश्य जल न्याय ढांचे की प्रासंगिकता का विश्लेषण करना था, जो विशेष रूप से दक्षिण भारत के केरल राज्य में चालियार नदी पर चार दशकों तक चले जल संघर्ष के संदर्भ में जल उपयोग और विनियोग के सामाजिक तथा पारिस्थितिकी पहलुओं को समझाने का था। उन्होंने यह दिखाया कि जल संसाधनों के अत्यधिक दोहन और पारिस्थितिकी तंत्र के क्षरण का एक-दूसरे से गहरा संबंध है, और इस क्षरण के साथ जल न्याय का उल्लंघन भी होता है। अध्ययन ने यह बताया कि संघर्ष को पक्षपाती तरीके से पेश किए जाने के कारण कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं को नज़रअंदाज़ कर दिया गया था, जिससे जल अन्याय की पूरी तस्वीर पूरी तरह से स्पष्ट नहीं हो पाई। इसके अलावा, यह भी बताया गया कि जल न्याय से जुड़े मुद्दों पर बाद की नीतियों और प्रथाओं में महत्वपूर्ण बदलाव की जरूरत थी, लेकिन इन मुद्दों को उस समय सही तरीके से समझा और लागू नहीं किया गया। इस अध्ययन के माध्यम से जल न्याय और संसाधनों के दोहन के मुद्दे पर एक व्यापक दृष्टिकोण प्रदान किया गया।

डे, एस., रेसरेक्सियन, बी.पी., और डोनीस, पी. (2014) के अध्ययन का उद्देश्य बांग्लादेश के गारो समुदाय के नृवंशविज्ञान क्षेत्रीय अध्ययन के आधार पर लिंग, पर्यावरण और सतत संसाधन प्रबंधन के बीच अंतर्संबंधों की जांच करना था। लेख में नारीवादी राजनीतिक पारिस्थितिकी के दृष्टिकोण से, पारंपरिक संस्कृति, वन पारिस्थितिकी और केंद्रित संसाधन शासन

की बदलती प्रक्रियाओं के प्रभाव का अध्ययन किया गया था। इसके माध्यम से यह बताया गया कि कैसे लिंग गतिशीलताएं स्थानीय पर्यावरणीय संघर्षों में स्थानीय लोगों की भागीदारी को प्रभावित करती हैं। निष्कर्षों के अनुसार, गारो समुदाय के महिलाओं और पुरुषों ने अपने संघर्षों के दौरान लिंग विशिष्ट भूमिकाएं बनाए रखी थीं, खासकर वन भूमि और वृक्ष संसाधनों पर नियंत्रण बनाए रखने के लिए। उन्होंने वन पारिस्थितिकी के साथ एक वर्ग-आधारित संबंध भी विकसित किया था, जो यह प्रदर्शित करता है कि इन संबंधों को वन नीतियों में उचित रूप से समाहित किया जाना चाहिए। यह अध्ययन इस बात को स्थापित करता है कि लिंग और पर्यावरणीय मुद्दों के बीच पारस्परिक संबंध महत्वपूर्ण होते हैं और इन मुद्दों को स्थानीय संदर्भ में सुलझाने के लिए प्रभावी रणनीतियाँ तैयार की जानी चाहिए।

लिन, के., डेगल, जे., हॉफमैन, जे., लेक, एफ., मिशेल, एन., रैंको, डी., और विलियम्स, पी. (2014) ने अपनी शोधपत्र में यह लक्ष्य निर्धारित किया था कि आदिवासी पारंपरिक खाद्य संसाधनों पर जलवायु परिवर्तन के प्रभावों का अध्ययन किया जाए, विशेष रूप से यह समझते हुए कि जलवायु परिवर्तन उन प्रजातियों और पारिस्थितिकी तंत्रों को प्रभावित कर रहा है, जो आदिवासी लोगों की संस्कृति, अर्थव्यवस्था और जीवनशैली के लिए महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने यह भी देखा कि आदिवासी लोगों की पारंपरिक खाद्य स्रोतों तक पहुंच संघीय सरकार के कानूनी और नियामक संबंधों से प्रभावित होती है। इस अध्ययन में यह पाया गया कि जलवायु परिवर्तन के प्रभाव स्थानीय और क्षेत्रीय स्तर पर जनजातीय समुदायों की खाद्य सुरक्षा पर गंभीर असर डाल सकते हैं और यह भी कि इन समुदायों को जलवायु परिवर्तन के प्रभावों से निपटने के लिए प्रभावी अनुकूलन रणनीतियों की आवश्यकता है। शोध में यह निष्कर्ष निकाला गया कि अगर जनजातीय लोग और अन्य सरकारी संसाधन प्रबंधक जलवायु परिवर्तन के प्रभावों का मुकाबला करने के लिए साथ मिलकर काम करें, तो उनकी अनुकूलन क्षमता को मजबूत किया जा सकता है। इस अध्ययन ने यह भी पुष्टि की कि खाद्य-आधारित संसाधनों पर ध्यान केंद्रित करते हुए जलवायु परिवर्तन अनुकूलन की रणनीतियाँ जनजातीय लोगों की पारंपरिक जीवनशैली के संरक्षण में मददगार हो सकती हैं।

चतुर्वेदी ए., हजारे टी.एन., पाटिल एन.जी., चतुर्वेदी ए., मुंगोले ए., और कांबले आर. (2015) ने भारत के महाराष्ट्र राज्य के गोंदिया जिले के देवरी तालुका के तीन गांवों में एक अध्ययन किया, जिसे भारतीय योजना आयोग द्वारा पिछड़ा जिले के रूप में सूचीबद्ध किया गया था। अध्ययन का उद्देश्य सीमांत भूमि पर निर्भर जनजातीय समुदायों की आजीविका की स्थिति

में सुधार करना था, जिनकी हालिया समस्या कम होती प्राकृतिक संसाधनों और बढ़ती जनसंख्या से उत्पन्न हो रही थी। इन गांवों में गैर-लकड़ी वन उत्पादों (एनटीएफपी) में गिरावट, सीमांत संपत्ति संसाधनों (सीपीआर) का सिकुड़ना और कृषि उत्पादन में कमी पाई गई थी। इसके समाधान के लिए भागीदारी भूमि उपयोग योजना (पीएलयूपी) तैयार की गई, जिसमें सामुदायिक कार्य, मछली पालन, विविध फसलवहन और वर्षा जल प्रबंधन जैसे हस्तक्षेप शामिल थे। इस योजना के तहत एनटीएफपी का मात्रात्मक और गुणात्मक मूल्यांकन किया गया। इसके परिणामस्वरूप, भूमि उत्पादकता में सुधार हुआ और आर्थिक विकास में भी महत्वपूर्ण वृद्धि हुई। अध्ययन से यह पाया गया कि सक्रिय समुदाय की भागीदारी के बिना स्थायी भूमि उपयोग योजना को सफलतापूर्वक लागू करना कठिन था। इसलिए, प्रभावी हस्तक्षेप के लिए पहले आर्थिक लाभ दिखाने और समुदाय को सक्रिय रूप से शामिल करने पर जोर दिया गया।

मोहंती, पी. (2015) ने अपनी रिपोर्ट में बताया कि भारत के आर्थिक विकास ने गरीबी को कम करने में उम्मीद से कम सफलता हासिल की है, और वैश्वीकरण ने गरीबी और आय वितरण को और खराब कर दिया है। रिपोर्ट में यह भी कहा गया कि भारत में लगभग 100 मिलियन लोग भूखे हैं, और आदिवासी क्षेत्रों में स्थिति और भी गंभीर हो जाती है, जहां गरीबी और भुखमरी के संकेतक ज्यादा कमजोर होते हैं। ओडिशा के कोफ्तगर वन्य जीव अभयारण्य को विकासशील देशों में राज्य द्वारा लागू नव उदारवादी विकास नीति का स्पष्ट उदाहरण बताया गया है। इस आलेख में यह भी उल्लेख किया गया कि वन्यजीव अभ्यारण्य और राष्ट्रीय उद्यानों के नाम पर आदिवासियों की पारंपरिक और प्रथागत वन संसाधनों तक पहुंच को प्रतिबंधित किया गया है, जिससे उनके अधिकारों का उल्लंघन हुआ। वन अधिकार अधिनियम, जो आदिवासियों को आर्थिक और पारिस्थितिक सुरक्षा प्रदान करने का एक महत्वपूर्ण कदम हो सकता था, को गंभीरता से लागू नहीं किया गया, और राज्य तंत्र ने इसे पूरी तरह से नजरअंदाज किया। यह अध्ययन कोफ्तगर वन्य जीव अभयारण्य के प्रभाव और इससे जुड़े सामाजिक, पर्यावरणीय, और कानूनी मुद्दों पर विस्तार से विचार करता है, और यह निष्कर्ष निकालता है कि विकास नीतियों के तहत आदिवासी समुदायों की समस्याओं को उचित रूप से हल नहीं किया गया है।

कुमार, के., सिंह, एनएम, और केर, जेएम (2015) ने अपने अध्ययन में प्राकृतिक संसाधन शासन के लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की वांछनीयता और विकासशील देशों में इसकी प्रभावशीलता पर प्रकाश डाला। अध्ययन का उद्देश्य भारत में वन अधिकार मान्यता अधिनियम (RFRA), 2006 के कार्यान्वयन और संयुक्त वन प्रबंधन (JFM) कार्यक्रम की तुलना करते हुए

यह समझना था कि ये पहलों लोकतांत्रिक वन शासन के लिए किस हद तक नई संभावनाएँ खोलती हैं। उन्होंने यह जांचने का प्रयास किया कि दोनों मॉडल्स में शक्तियों का वितरण, नीचे की ओर जवाबदेही और वन-निर्भर गरीबों पर इनके प्रभाव कैसे हैं। शोधकर्ताओं ने पाया कि RFRA के कार्यान्वयन का विरोध शक्तिशाली हितों द्वारा किया गया था, और इसके कट्टरपंथी प्रावधानों, जो सामुदायिक अधिकारों पर जोर देते थे, का बड़े पैमाने पर पालन नहीं किया गया। हालांकि, अध्ययन के निष्कर्षों ने यह भी बताया कि RFRA में वनवासी समुदायों के प्रति वन नौकरशाही को जवाबदेह बनाने और उन्हें ठोस कानूनी शक्तियाँ और अधिकार हस्तांतरित करने की क्षमता है। कुल मिलाकर, इस शोध ने RFRA के प्रभावी लागू होने की आवश्यकता को रेखांकित किया और इसने यह सिद्ध किया कि यह जंगलों पर समुदाय आधारित अधिकारों की रक्षा में महत्वपूर्ण योगदान दे सकता है।

त्रिपाठी, पी. (2016) ने अपनी अध्ययन में भारत में लगभग 10.4 मिलियन जनजातियों की स्थिति और उनके वन संसाधनों के साथ संबंधों का विश्लेषण किया। अध्ययन का उद्देश्य यह था कि आदिवासी समुदायों की वनों पर निर्भरता और आधुनिक विकास नीतियों के उनके अधिकारों पर प्रभाव को समझा जाए। अध्ययन में पाया गया कि जनजातियाँ भारत की कुल जनसंख्या का 8.6% हैं और इनके अधिकार व संघर्ष विशेष रूप से वन संसाधनों से जुड़े हैं। औपनिवेशिक काल में सरकार ने वनों पर अधिकारों को हस्तांतरित कर आदिवासियों को उनके पारंपरिक संसाधनों से वंचित किया था। इसके बाद के समय में लागू कानूनी ढाँचों ने आदिवासियों को एक सम्मानजनक दर्जा तो दिया, लेकिन भूमि अधिग्रहण, विकास-प्रेरित विस्थापन, और राजनीतिक स्वायत्तता के मुद्दों में समान प्रगति की आवश्यकता थी। यह अध्ययन दर्शाता है कि सरकार और नीति निर्माताओं को आदिवासियों के अधिकारों को नजरअंदाज नहीं करना चाहिए। सरकार को उचित नीति निर्माण और लागू कानूनों के माध्यम से इन समुदायों को अधिकार देने की आवश्यकता है, ताकि उनका सामाजिक और आर्थिक उत्थान सुनिश्चित किया जा सके।

सिरिपुरापु, के., मोहंती, पी., कोटमराजू, के., और जियोरेस, एम. (2016) ने अपने अध्ययन में यह उद्देश्य रखा था कि वे भारत में वन अधिकार अधिनियम (एफआरए) 2006 के कार्यान्वयन पर विश्लेषण करें और यह समझें कि यह कानून किस हद तक उपनिवेशी शासन से प्रभावित था। उनका अध्ययन यह बताता है कि विकेंद्रीकरण सुधारों के लिए सिद्धांत के अनुसार सकारात्मक परिणामों की उम्मीद की जाती थी, लेकिन विकासशील देशों में ऐसा नहीं हो सका, क्योंकि इन सुधारों को उस माहौल में लागू किया गया था जो विकेंद्रीकरण सिद्धांत की

भविष्यवाणी के अनुसार आवश्यक स्थितियों की कमी था। हालांकि एफआरए, 2006 को एक प्रगतिशील कदम के रूप में पेश किया गया था, अध्ययन में पाया गया कि भारत की वन नीतियाँ अभी भी ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की नीतियों के प्रभाव में हैं। इन नीतियों को लागू करने के दौरान उन संस्थागत सुधारों का प्रभाव काफी लंबे समय तक बना रहा। इस समीक्षा में आंतरिक उपनिवेशवाद की अवधारणा को अपनाया गया, जिसमें यह निष्कर्ष निकाला गया कि एफआरए 2006 के कार्यान्वयन में संघर्ष का मूल कारण उपनिवेशीकरण द्वारा शुरू किए गए संस्थागत सुधारों में निहित हो सकता है।

पुर्टी, एस. (2017) द्वारा किए गए अध्ययन का उद्देश्य झारखंड राज्य के पूर्वी भाग में स्थित सारंडा वन क्षेत्र की आदिवासी महिलाओं के जीवन में लघु वनोपज के केंद्रीय स्थान की जांच करना था। अध्ययन ने यह पाया कि आदिवासी महिलाएँ, जो लघु वनोपज संग्रहण में संलग्न हैं, बिना किसी सरकारी नीति और सुरक्षा उपायों के संघर्ष कर रही हैं। इसके अलावा, अध्ययन ने यह भी उल्लेख किया कि तेज़ी से हो रहे औद्योगीकरण, खनन और वनों की कटाई के कारण इन महिलाओं के पारंपरिक आजीविका अधिकार प्रभावित हो रहे हैं, जिससे उनके संसाधनों पर खतरा उत्पन्न हो रहा है। भारतीय संविधान की अनुसूची V के तहत आदिवासी समुदायों को वन संसाधनों पर हक प्राप्त है, लेकिन अध्ययन ने पाया कि इन अधिकारों का अक्सर उल्लंघन किया जाता है। इन अधिकारों को मान्यता देने के बजाय, राज्य द्वारा उन्हें अस्वीकार किया जाता है। अध्ययन में यह भी सामने आया कि सारंडा वन में आदिवासी महिलाओं को दो प्रकार की पितृसत्ता का सामना करना पड़ता है: एक अपने समाज के बाहर के बिचौलियों, व्यापारियों और ठेकेदारों द्वारा और दूसरा राज्य द्वारा, जो उन्हें विभिन्न प्रतिबंधों के माध्यम से उत्पीड़ित करता है।

सत्पथी, बी. (2017) ने वन अधिकार अधिनियम (एफआरए) 2006 का अध्ययन किया, जिसका उद्देश्य भारत में स्थानीय वनवासियों को स्वामित्व हस्तांतरित करना, उन्हें बेहतर भू-सुरक्षा प्रदान करना और वन संसाधनों पर उनके अधिकारों को मजबूत करना था। यह अधिनियम आदिवासी लोगों के प्रति ऐतिहासिक अन्याय को सुलझाने का दावा करता है। अध्ययन में ओडिशा के मयूरभंज जिले के दो गांवों में वन-आश्रित समुदायों की आजीविका और वन संरक्षण के संबंध में अनौपचारिक और औपचारिक संस्थाओं के इंटरफेस को विश्लेषित किया गया, ताकि एफआरए के कार्यान्वयन में आने वाली चुनौतियों की पहचान की जा सके। इसके लिए, लेख ने मौखिक इतिहास, फोकस समूह चर्चाएं और विभिन्न अभिनेताओं के साथ गहन साक्षात्कार से प्राप्त

अनुभवजन्य डेटा का उपयोग किया। अध्ययन के निष्कर्षों के अनुसार, असममित सूचना प्रवाह, समन्वय की कमी, अलोकतांत्रिक भागीदारी, पारदर्शिता की कमी और विभिन्न स्तरों पर जवाबदेही की कमी जैसे मुद्दे एफआरए के प्रभावी कार्यान्वयन में बाधक बन रहे थे। इन चुनौतियों ने साबित किया कि कानून की सफल कार्यान्वयन के लिए सुधार की आवश्यकता थी, ताकि वनवासियों को उनके अधिकार वास्तविक रूप से प्राप्त हो सकें।

सारंगी, टी.के. (2017) ने अपने अध्ययन में यह उद्देश्य रखा था कि संरक्षित क्षेत्रों में प्राकृतिक संसाधन स्थानीय समुदायों की आजीविका की जरूरतों को कैसे पूरा करते हैं, साथ ही यह भी देखा कि मानवीय गतिविधियाँ वन्यजीवों के अस्तित्व और जैव विविधता के संरक्षण को कैसे प्रभावित करती हैं। अध्ययन में यह पाया गया कि संरक्षण और आजीविका के बीच गंभीर संघर्ष होता है, जो विशेष रूप से जब स्थानीय लोग वन संसाधनों का उपयोग करते हैं, तो संरक्षण प्रयासों के साथ टकराव उत्पन्न करते हैं। लेखक ने यह भी उल्लेख किया कि हालांकि भारत में पर्यावरण और मानवाधिकारों से संबंधित अच्छे कानून मौजूद हैं, लेकिन इनका क्रियान्वयन जमीनी स्तर पर प्रभावी नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त, उन्होंने वन अधिकार अधिनियम 2006 (एफआरए) की चर्चा की, जो वनवासियों के बुनियादी आजीविका अधिकारों को मान्यता प्रदान करता है, लेकिन इसका क्रियान्वयन विभिन्न संस्थागत समस्याओं का सामना करता है। ओडिशा के संरक्षित क्षेत्रों में एफआरए के संदर्भ में लेख में संरक्षण प्रयासों और स्थानीय समुदायों की आजीविका के बीच संघर्ष पर प्रकाश डाला गया। साथ ही, आजीविका को मजबूत करने के उपायों का सुझाव दिया गया, जिनमें एफआरए का उचित क्रियान्वयन शामिल है, जो न केवल स्थिर संपत्ति अधिकारों को प्रदान करता है, बल्कि समुदायों के जीवन में भी सुधार लाने में मदद करता है।

पाटीदार, जे., कुम्हार, बी., म्हस्के, एस., और जाट, एस. (2018) ने अपनी अध्ययन में संधारणीय आजीविका में पाँच मुख्य परिसंपत्तियों – भौतिक, प्राकृतिक, वित्तीय, मानवीय और सामाजिक पूंजी – का विश्लेषण किया है। अध्ययन का उद्देश्य गरीबी को कम करने के प्रयासों में सुधार लाने के लिए आजीविका के विभिन्न आयामों का पता लगाना था। अध्ययन के परिणामों में यह पाया गया कि जनजातीय समुदायों की आजीविका परिसंपत्तियाँ विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, संचार और परिस्थितिजन्य तत्वों द्वारा प्रभावित होती हैं, जैसे आयु, शिक्षा, सामाजिक भागीदारी, भूमि जोत का आकार, मुख्य व्यवसाय, कृषि शक्ति, पशुधन का स्वामित्व, वानिकी से आय, और विभिन्न पूंजीगत संसाधनों का उपयोग। झारखंड राज्य में, जहां समृद्ध

प्राकृतिक संसाधन और जैव विविधता मौजूद हैं, जनजातीय समुदायों की जीवनशैली का आधार वन उत्पादों जैसे लकड़ी, लाख, चारा, फलों, फूलों, बीजों, मशरूम, मसाले, शहद, गोंद, रेजिन, बांस आदि का संग्रहण, प्रसंस्करण और विक्रय है। इन संसाधनों के माध्यम से जनजातीय समुदाय अपनी आर्थिक स्थिति को मजबूत करते हैं और प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग करके अपनी आजीविका को सुनिश्चित करते हैं।

ज़ेवियर, एस. (2018) ने अपने अध्ययन में केरल की कादर जनजाति की समस्याओं को उजागर किया। कादर जनजाति, जो विजकाचा वन प्रभाग में पैराबुलर वन्यजीव अभयारण्य के परिसर में स्थित है, पांच विशेष रूप से कमजोर जनजातीय समूहों (PVTG) में से एक है। अध्ययन का उद्देश्य इस जनजातीय समुदाय को सामना करने वाली विभिन्न समस्याओं का विश्लेषण करना था। अध्ययन में पाया गया कि इस समुदाय को कई प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ा, जैसे कि वित्तीय संसाधनों की कमी, सरकारी अधिकारियों द्वारा शोषण, शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं की कमी, और स्थिर रोजगार की कमी। इसके अलावा, जनजाति को विस्थापन का खतरा और शराब की लत जैसी सामाजिक समस्याओं का भी सामना था। वन संसाधनों की निकासी और प्राकृतिक संसाधनों पर अधिकार के विवाद भी प्रमुख समस्याओं में से थे। इसके अतिरिक्त, सरकारी नियमों का अनुपालन, सड़क और बुनियादी सुविधाओं की कमी, और स्वास्थ्य और कुपोषण की समस्या ने इस समुदाय के जीवन स्तर को और कठिन बना दिया था। वन विनियमन अधिनियम (2006) का उचित कार्यान्वयन नहीं होने और भूमि के स्वामित्व से जुड़े दस्तावेज़ों की कमी ने भी इस समुदाय की स्थिति को और जटिल बना दिया था।

साहू, जी. (2019) ने अपने अध्ययन में आदिवासी समुदायों द्वारा विकास परियोजनाओं के प्रति बढ़ते प्रतिरोध को उजागर किया, विशेष रूप से उन परियोजनाओं का जो उनके पारंपरिक भूमि और संसाधनों के स्वामित्व और प्रबंधन के अधिकारों को प्रभावित करती हैं। अध्ययन का उद्देश्य यह था कि आदिवासी क्षेत्रों में खनन गतिविधियों के संदर्भ में, आक्रामक और शोषणकारी खनिज नीतियाँ कैसे आदिवासी अधिकारों को प्रभावित करती हैं, और वन क्षेत्रों में खनन के परिणामस्वरूप वन संसाधनों के उपयोग और प्रबंधन में आदिवासी अधिकारों की सुरक्षा में संवैधानिक प्रावधानों और वैधानिक अधिनियमों का प्रभाव क्या रहा है। साहू (2019) ने यह निष्कर्ष निकाला कि खनन गतिविधियाँ आदिवासी समुदायों के लिए शोषणकारी रही हैं, जिससे उनके जीवन का तरीका और पारंपरिक अधिकार प्रभावित हुए हैं। विशेष रूप से, 2013 का वेदांता निर्णय महत्वपूर्ण साबित हुआ, जिसने यह पुष्टि की कि खनन से पहले ग्राम सभाओं की

स्वतंत्र और पूर्व सहमति आवश्यक है। इसके अलावा, अध्ययन ने यह भी दर्शाया कि संवैधानिक प्रावधान और अधिनियम, जैसे कि वन अधिकार अधिनियम (2006), आदिवासी अधिकारों की सुरक्षा में एक सहायक भूमिका निभाते हैं, लेकिन वास्तविक क्रियान्वयन में कई चुनौतियाँ हैं। इस अध्ययन के माध्यम से यह दिखाया गया कि अधिकारों की सुरक्षा को अधिक प्रभावी बनाने के लिए संवैधानिक उपायों को सही तरीके से लागू करना आवश्यक है।

नायक, ए. (2019). इस अध्ययन का उद्देश्य ओडिशा के नागर जिले की कोंध जनजाति में महिलाओं की स्वदेशी ज्ञान प्रणाली और प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन के बीच संबंधों को समझना था। कोंध समुदाय, जो जंगलों में निवास करता है और अपनी आजीविका के लिए जंगलों पर अत्यधिक निर्भर है, में महिलाओं की भूमिका को अध्ययन का केंद्र बनाया गया। यह देखा गया कि महिलाएं परिवार और समुदाय की ज़िम्मेदारियाँ उठाने के साथ-साथ, सामाजिक और आर्थिक संघर्षों का सामना करते हुए प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण करती थीं। अध्ययन ने यह भी दर्शाया कि सामाजिक अशांति के बावजूद कोंध समुदाय ने जंगलों के संरक्षण में सामूहिक भूमिका निभाई। इसके अतिरिक्त, यह अध्ययन किया गया कि सरकारी नीतियाँ, विशेषकर वन नीतियाँ, कैसे कोंध समुदाय और विशेष रूप से महिलाओं पर प्रभाव डालती हैं, जब प्राकृतिक संसाधनों का विनाश बढ़ रहा था। महिलाओं द्वारा अपने पर्यावरण को बचाने और अपनी आवाज़ बुलंद करने के तरीकों का भी इस अध्ययन में विश्लेषण किया गया। निष्कर्षतः, यह पाया गया कि कोंध महिलाओं का पारंपरिक ज्ञान और उनका सक्रिय पर्यावरण संरक्षण में योगदान, प्राकृतिक संसाधनों के स्थायी उपयोग और उनके अधिकारों की रक्षा के लिए महत्वपूर्ण था।

दास और त्यागी (2019) के अध्ययन का उद्देश्य अनुसूचित जनजाति और अन्य वनवासी (अधिकारों की मान्यता) अधिनियम, 2006 के तहत सामुदायिक वन संसाधनों पर अधिकारों की बातचीत और अधिकारों के बाद के परिदृश्य में संस्थागत और संसाधन स्थिरता के निर्धारकों को समझना था। अध्ययन ने महाराष्ट्र के सफल मामलों पर सांस्कृतिक और पारिस्थितिक संदर्भों के अनुरूप विकसित व्यापक संस्थागत और संसाधन संकेतकों का उपयोग किया। अध्ययन के निष्कर्षों ने दिखाया कि संसाधन केंद्रीयता, सामुदायिक जुड़ाव और दूरदर्शी नेतृत्व सामुदायिक स्थिरता को बढ़ाने के सबसे महत्वपूर्ण कारक थे। हालाँकि, इन कारकों का प्रदर्शन विभिन्न गाँवों में अलग-अलग रूपों में हुआ। इसके अलावा, सफलता कई मध्यवर्ती चरों से भी प्रभावित हुई, जैसे नीति कार्यान्वयन की गुणवत्ता और संसाधनों तक समुदाय की पहुंच। अध्ययन ने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि वन अधिकारों के लागू होने से वन विखंडन और आवरण का नुकसान नहीं

हुआ, बल्कि इसके विपरीत, यह सामुदायिक वन प्रबंधन और संसाधन सुरक्षा को मजबूत करने में सहायक रहा। इस शोध ने बेहतर काश्तकारी सुरक्षा और सामुदायिक संसाधन व्यवस्था के सुदृढ़ीकरण का सुझाव दिया, जबकि कमजोर नीति कार्यान्वयन के चलते सामुदायिक वन अधिकारों के प्रवर्तन में चुनौतियाँ भी रेखांकित कीं।

डॉकरी, एम.जे. (2020) ने अपने अध्ययन में कहा था कि आदिवासी समुदाय कई पीढ़ियों से अपनी भूमि और संसाधनों पर अधिकारों की मान्यता के लिए संघर्ष करते रहे हैं। यह अध्ययन इस बात का उद्देश्य रखता था कि आदिवासी अधिकारों का प्रभाव प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन और पर्यावरणीय मुद्दों पर कैसे पड़ता है। उन्होंने कहा था कि आदिवासियों ने प्राकृतिक संसाधनों, पर्यावरण और उनकी संप्रभुता को नुकसान पहुंचाने वाली गतिविधियों का विरोध किया था। अध्ययन में यह पाया गया था कि बीते दशकों में आदिवासी सशक्तीकरण का प्रभाव इतना बढ़ गया था कि वे जलवायु परिवर्तन, जीवाश्म ईंधन निष्कर्षण और परिवहन, लकड़ी की कटाई और जल प्रबंधन जैसे मुद्दों को प्रभावित कर पाने की स्थिति में आ गए थे। इसके अतिरिक्त, शोध में तीन संभावित परिदृश्य प्रस्तुत किए गए थे: सहयोग और पर्यावरण प्रबंधन में वृद्धि, मुकदमेबाजी में वृद्धि और हिंसा में वृद्धि। एक चौथा परिदृश्य भी सुझाया गया था, जिसमें तीनों परिदृश्य समय और स्थान के हिसाब से अलग-अलग घटनास्थलों पर एकसाथ घटित होते दिख सकते थे। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला था कि प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन और नीति-निर्माण में आदिवासी सशक्तीकरण बदलाव का एक मुख्य कारक बन सकता था। यह अध्ययन आदिवासी अधिकारों की मान्यता और उनके प्राकृतिक संसाधनों के प्रभावी प्रबंधन की दिशा में किए गए प्रयासों को रेखांकित करता था।

साहू, जी. (2021) का अध्ययन झारखंड राज्य में अनुसूचित जनजाति और अन्य परंपरागत वन निवासी (अधिकारों की मान्यता) अधिनियम, 2006 के कार्यान्वयन की प्रक्रिया और प्रवर्तन स्तर पर चुनौतियों की जांच पर केंद्रित था। अध्ययन का उद्देश्य वन अधिकार दावा डेटाबेस की समीक्षा के माध्यम से राज्य में वन अधिकार मान्यता की स्थिति और प्रवृत्तियों का आकलन करना था। यह विश्लेषण झारखंड के तीन जिलों – रांची, गोड्डा, और हजारीबाग – के 12 गांवों से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर किया गया था। अध्ययन ने यह उजागर किया कि झारखंड में वन अधिकार दावा मान्यता की प्रक्रिया असमान, अपारदर्शी और स्थिर रही। इसके पीछे कई कारक जिम्मेदार पाए गए, जैसे कि कार्यान्वयन एजेंसियों की अस्पष्ट भूमिकाएँ, जिला और उप-मंडल स्तर पर वित्तीय और मानव संसाधनों की कमी, एक समर्पित आदिवासी विभाग का अभाव, और

कार्यान्वयन एजेंसियों के भीतर एवं उनके बीच क्षैतिज एकीकरण की अनुपस्थिति। इन मुद्दों ने वन अधिकार दावों की मान्यता को बाधित किया, जिससे आदिवासी और परंपरागत वन निवासियों को उनके अधिकारों के उचित प्रवर्तन में चुनौतियों का सामना करना पड़ा। इस अध्ययन ने झारखंड में वन अधिकार कानून को प्रभावी ढंग से लागू करने के लिए नीतिगत सुधार और कार्यान्वयन रणनीतियों को मजबूत करने की आवश्यकता पर बल दिया।

बोस, पी. (2023): इस अध्ययन का उद्देश्य यह जांच करना था कि भारत के प्रमुख खनन राज्यों (छत्तीसगढ़, झारखंड, और ओडिशा) में केंद्रीकृत खनन ने किस प्रकार स्वदेशी समुदायों के पारंपरिक वन अधिकारों को प्रभावित किया। शोध ने अधिकार-आधारित दृष्टिकोण के दो पहलुओं—स्वतंत्र पूर्व और सूचित सहमति (FPIC) और सामाजिक आंदोलनों—का उपयोग करते हुए तीन नृवंशविज्ञान केस अध्ययनों का विश्लेषण किया। अध्ययन ने पाया कि वनाच्छादित क्षेत्रों में रहने वाले जातीय रूप से विविध और अक्सर औपचारिक मान्यता से वंचित स्वदेशी समुदाय, जिन्हें अनुसूचित जनजाति या आदिवासी भी कहा जाता है, अपने वन अधिकारों की रक्षा के लिए लगातार संघर्षरत हैं। निष्कर्षों ने विकेंद्रीकृत खनन और समुदाय-आधारित वन प्रशासन की मांग करने वाले सामाजिक आंदोलनों के विभिन्न रूपों को उजागर किया। शोध ने यह भी दिखाया कि खनन और वन नीति के संदर्भ में समुदाय-नेतृत्व वाली पहलों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। निष्कर्षों में समावेशी वन और भूमि-उपयोग नीति तैयार करने के लिए स्वदेशी समुदायों की सिफारिशों को रेखांकित किया गया। अध्ययन ने यह निष्कर्ष निकाला कि सामाजिक आंदोलनों ने वन अधिकारों की बहाली और स्थायी खनन नीति की दिशा में प्रभावशाली कदम उठाए।

विजयन, महानिदेशक, और उमामहेश्वरी, एस. (2023) का अध्ययन भारतीय जनजातियों की सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना, उनके संघर्षों और उनके सामने आने वाली चुनौतियों पर केंद्रित था। इस अध्ययन का उद्देश्य स्वदेशी समुदायों की संस्कृति, उनके इतिहास, और स्वतंत्रता के बाद उनके संघर्षों को समझना था। शोध में पाया गया कि भारतीय जनजातियाँ बाहरी हस्तक्षेप, आर्थिक कठिनाइयों, और अलगाववादी दृष्टिकोण के कारण तीन प्रकार के संघर्षों का सामना कर रही थीं। अध्ययन ने यह भी उल्लेख किया कि गरीबी, कर्ज, अशिक्षा, गुलामी, शोषण, बीमारी और बेरोजगारी जनजातियों के सामने आने वाली प्रमुख समस्याएँ थीं। अध्ययन में यह उजागर हुआ कि वैश्विक औद्योगिकीकरण ने इन समुदायों की पारंपरिक संस्कृति और आजीविका पर गंभीर प्रभाव डाला। महाश्वेता देवी और गोपीनाथ मोहंती के कार्यों पर आधारित विश्लेषण में यह दर्शाया गया कि आदिवासी इतिहास और संस्कृति में बदलाव कैसे हुए और

संघर्ष उनकी सामाजिक संरचना का अभिन्न हिस्सा कैसे बन गए। अध्ययन ने जनजातीय समूहों के अधिकारों और उनकी समस्याओं के समाधान की आवश्यकता पर जोर दिया।

डार, एच.ए., और वानी, जेड.ए. (2024): इस अध्ययन का उद्देश्य यह जांचना था कि जम्मू और कश्मीर (J&K) की अनुसूचित जनजाति बकरवाल दोहरे विरोधाभास—हाशिए पर पड़े समुदाय और संवेदनशील सीमावर्ती क्षेत्र के निवासियों के रूप में—से कैसे जूझ रही थी। अध्ययन में पाया गया कि परंपरागत रूप से ट्रांसह्यूमन चरवाहों के रूप में जीवन व्यतीत करने वाले बकरवाल समुदाय की शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा और अन्य बुनियादी सुविधाओं तक पहुंच सीमित रही थी। सरकारी हस्तक्षेप ने उनके जीवन में परिवर्तन का संकेत दिया, लेकिन वे प्रभावशाली मालिकों और निहित स्वार्थों के शोषण के लिए अत्यधिक असुरक्षित बने हुए थे। लेख में यह भी स्पष्ट किया गया कि सरकार द्वारा चलाई गई नीतियां और बकरवाल समुदाय की जमीनी स्तर की वास्तविकताएं एक दूसरे से भिन्न थीं। सैद्धांतिक ढांचे के आधार पर, यह अध्ययन इस बात पर केंद्रित था कि राज्य-प्रेरित विकास पहलों पर बकरवाल समुदाय कैसा प्रतिक्रिया दे रहा था, जिनका उद्देश्य उनके पारंपरिक खानाबदोश जीवन से स्थायी जीवनशैली में परिवर्तन को बढ़ावा देना था। निष्कर्षों ने सुझाव दिया कि इस बदलाव की प्रक्रिया जटिल और विवादास्पद रही, जहां बकरवाल समुदाय ने सरकारी पहलों को कभी स्वीकृति के साथ तो कभी प्रतिरोध के रूप में देखा।

शेट्टी और नायर (2024) का अध्ययन वैश्विक दक्षिण के संदर्भ में व्यवसाय और मानवता के प्रतिच्छेदन की गहन समझ प्रस्तुत करने का प्रयास था। इस अध्ययन का उद्देश्य पश्चिमी अवधारणाओं जैसे व्यक्तिवाद, स्वायत्तता और प्रगति के वर्चस्व से परे व्यावसायिक दृष्टिकोण को व्यापक बनाना था, विशेष रूप से भारत के दादरा और नगर हवेली क्षेत्र में आदिवासी समुदायों के संदर्भ में। यह क्षेत्र मुख्य रूप से कृषि और वानिकी पर निर्भर है, जो उनकी सांस्कृतिक पहचान का अभिन्न हिस्सा है। अध्ययन ने उपनिवेशवाद और औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप हुए सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों को उजागर किया, जिनकी वजह से परंपरागत व्यवसायों का विनाश हुआ। इन परिवर्तनों ने न केवल आदिवासी समुदायों की आजीविका बल्कि पर्यावरणीय संतुलन को भी नकारात्मक रूप से प्रभावित किया। शोध में जंगलों के फंगल माइसेलियम और पेड़ों के नेटवर्क को एक रूपक के रूप में इस्तेमाल किया गया, जो आदिवासी समुदायों और उनके पर्यावरण के जटिल और गहन संबंधों का प्रतिनिधित्व करता है। अध्ययन में तर्क दिया गया कि सामाजिक-राजनीतिक अन्याय के कारण ऐतिहासिक रूप से पोषित

व्यवसाय नष्ट हो रहे हैं, जिससे व्यावसायिक अन्याय और व्यावसायिक रंगभेद को बढ़ावा मिल रहा है। इसके परिणामस्वरूप मानव और प्रकृति दोनों के स्वास्थ्य और कल्याण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। इस अध्ययन ने वैश्विक दक्षिण के भीतर व्यवसाय और मानवता पर केंद्रित साहित्य को महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया।

शर्मा, पी., और मोहन, के. (2024) ने अपने अध्ययन में भौगोलिक स्थान और आदिवासी लोगों की आजीविका के बीच जटिल संबंधों की जांच की। अध्ययन का उद्देश्य स्थानिक कारकों के आधार पर आजीविका के अवसरों के वितरण को समझना और शहरी केंद्रों की निकटता के प्रभाव को उजागर करना था। शोध के अनुसार, आदिवासी समुदाय ऐतिहासिक रूप से प्राकृतिक संसाधनों पर आधारित जीवनशैली अपनाते आए हैं, लेकिन औद्योगिकीकरण और आर्थिक संरचना के बदलने के बाद, सेवा क्षेत्र की प्रमुखता ने उनकी पारंपरिक आजीविका को प्रभावित किया। आदिवासी समुदाय अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण सेवा क्षेत्र में अवसरों से वंचित रह गए और प्राकृतिक संसाधनों की घटती उपलब्धता ने उनकी आर्थिक स्थिरता को और कमजोर कर दिया। शोध में निष्कर्ष निकाला गया कि शहरी केंद्रों की निकटता वाले स्थानों में आजीविका के अधिक अवसर थे, जबकि दूरस्थ स्थानों पर बसे आदिवासी समुदाय इन अवसरों से वंचित रहे। अध्ययन ने यह भी स्पष्ट किया कि भौगोलिक स्थान आदिवासी जीवन के सामाजिक-आर्थिक पहलुओं को गहराई से प्रभावित करता है। यह शोध जनजातीय समुदायों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति में सुधार के लिए भौगोलिक स्थान की भूमिका को समझने की दिशा में एक महत्वपूर्ण योगदान है।

कर्माकर (2024) ने अपने अध्ययन में इस बात पर जोर दिया कि प्राकृतिक संसाधनों और परिदृश्यों के उपयोग में मौजूद भेदभाव और अन्याय का कारण बनने वाली संरचनात्मक और ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को समझना और उनसे जुड़ना एक ज्ञानात्मक जिम्मेदारी है। अध्ययन का उद्देश्य एक ऐसा समाज कल्पित करना था, जिसमें पर्यावरणीय न्याय एक व्यवहार्य संभावना हो। इस संदर्भ में, कर्माकर ने भारतीय लेखक भूपाल की कृति *वन, रक्त और अस्तित्व: कोमुराम भीम का जीवन और समय* (2023) की विश्लेषणात्मक व्याख्या प्रस्तुत की, जो तेलुगु से पी.ए. कुमार द्वारा अनूदित है। इस साहित्यिक आख्यान में औपनिवेशिक वन अधिकारियों, साहूकारों, पूंजीपति शोषकों और दमनकारी संस्थानों द्वारा भारत के आदिवासी समुदायों पर हुए अन्याय को जीवंत रूप से प्रस्तुत किया गया। अध्ययन ने आदिवासी संस्कृतियों के वैकल्पिक दृष्टिकोणों और जीवन स्थितियों को प्रदर्शित और प्रोत्साहित करने के प्रयास में इस आख्यान की विवेचना

की। अध्ययन के पहले खंड में आदिवासी समुदायों के प्राकृतिक पर्यावरण और उनकी पारंपरिक जीवनशैली पर चर्चा की गई, जबकि दूसरे खंड में औपनिवेशिक शासन द्वारा उन पर ढाए गए अत्याचारों को समझाया गया। अंततः, आदिवासियों के प्रतिरोध को अक्सर निम्नस्तरीय पर्यावरणवाद मानने की धारणा का भी आलोचनात्मक मूल्यांकन किया गया।

2.2 समस्या कथन

झारखंड के जनजातीय समुदायों के लिए वन संसाधन जीवन, संस्कृति और आजीविका का आधार हैं। औपनिवेशिक नीतियों और औपनिवेशिकोत्तर विकास योजनाओं ने इन पर उनकी पहुँच सीमित की, जिससे संघर्ष जारी है। ऐतिहासिक साक्ष्य दर्शाते हैं कि कानूनी प्रावधानों के बावजूद वास्तविक अधिकार सुनिश्चित नहीं हो पाए हैं।

अध्याय 3

औपनिवेशिक शासन के खिलाफ वन संसाधनों की पहुंच के लिए जनजातीय संघर्षों के ऐतिहासिक साक्ष्य

औपनिवेशिक शासन के खिलाफ वन संसाधनों की पहुंच के लिए जनजातीय संघर्षों के ऐतिहासिक साक्ष्य (1947 से पहले) में कई महत्वपूर्ण संघर्षों का समावेश है, जिनका उद्देश्य ब्रिटिश शासन द्वारा आदिवासी समुदायों से उनके पारंपरिक वन संसाधनों के अधिकार छीनने के खिलाफ था। ये संघर्ष दर्शाते हैं कि कैसे औपनिवेशिक शासन ने जनजातीय समुदायों के जीवन को प्रभावित किया और उन्होंने अपनी भूमि और वन संसाधनों की रक्षा के लिए संगठित रूप से विरोध किया।

संताल हुल (1855-1856): संताल हुल (1855-1856) भारत के इतिहास में एक महत्वपूर्ण आदिवासी विद्रोह था, जो झारखंड, बंगाल और बिहार के संताल जनजातीय समुदायों द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य और उनके समर्थक स्थानीय जमींदारों के खिलाफ किया गया। यह संघर्ष ब्रिटिश शासन के जमींदारी व्यवस्था और वन कानूनों द्वारा आदिवासियों के अधिकारों के उल्लंघन का परिणाम था। ब्रिटिश साम्राज्य ने जमींदारी व्यवस्था लागू कर दी थी, जिसके तहत आदिवासी समुदायों की भूमि और वन संसाधनों पर बाहरी कब्जा हो गया। इसके अलावा, जमींदारों ने इन संसाधनों का शोषण किया और आदिवासियों से उच्च कर वसूले, जिससे उनके जीवन में मुश्किलें बढ़ गईं। संताल जनजातीय समुदाय के लिए इन वनों और भूमि संसाधनों का महत्व अत्यधिक था। ये संसाधन उनके जीवन की आधारशिला थे, क्योंकि इनसे उनकी खाद्य, आजीविका, और सामाजिक संरचनाओं की प्रक्रिया जुड़ी थी। जंगलों से वे लकड़ी, फल, औषधियाँ, और अन्य वन उत्पाद प्राप्त करते थे, जो उनके दैनिक जीवन का अभिन्न हिस्सा थे। जब ब्रिटिश सरकार और जमींदारों ने इन संसाधनों को नियंत्रण में लिया और उनके स्वामित्व को छीनने की कोशिश की, तो संताल समुदाय ने विरोध करना शुरू किया।

1855 में संतालों ने संगठित होकर विद्रोह शुरू किया, जिसे "संताल हुल" के नाम से जाना जाता है। इस संघर्ष का उद्देश्य ब्रिटिश शासन और जमींदारों से वन और भूमि अधिकारों की बहाली था। संतालों ने अपने अधिकारों की रक्षा के लिए हथियार उठाए और ब्रिटिश सरकार के खिलाफ सशस्त्र विद्रोह किया। यह संघर्ष लंबे समय तक चला और इसके परिणामस्वरूप कई संताल

प्रमुखों और विद्रोहियों की शहादत हुई। संताल हुल ने न केवल ब्रिटिश शासन के खिलाफ जनजातीय संघर्ष का रूप लिया, बल्कि यह वन अधिकारों, भूमि अधिकारों और आदिवासी अस्मिता की रक्षा का एक प्रतीक भी बन गया।

कोल विद्रोह (1831-1832): कोल विद्रोह (1831-1832) झारखंड के कोल जनजाति द्वारा ब्रिटिश शासन के खिलाफ किया गया एक प्रमुख संघर्ष था। यह विद्रोह उस समय हुआ जब ब्रिटिश साम्राज्य ने अपने सामरिक और वाणिज्यिक हितों के तहत जंगलों और भूमि पर नियंत्रण स्थापित करना शुरू किया, जिसके परिणामस्वरूप आदिवासी समुदायों की पारंपरिक जीवनशैली पर गहरा संकट आया। कोल जनजाति परंपरागत रूप से इन वनों पर निर्भर थी, जिनसे वे भोजन, लकड़ी, औषधियाँ और अन्य आवश्यकताएँ प्राप्त करते थे। ब्रिटिश शासन ने इन संसाधनों का शोषण किया, स्थानीय जमींदारों और व्यापारियों के साथ मिलकर आदिवासियों से वन उत्पादों पर कर लगाए और उन्हें जंगलों का उपयोग करने से वंचित किया। इस अतिक्रमण के खिलाफ, कोल जनजाति ने विरोध करना शुरू किया। वे अपने पारंपरिक वन अधिकारों की रक्षा के लिए संगठित हुए और ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ सशस्त्र संघर्ष का रास्ता अपनाया। इस संघर्ष में कोल जनजाति के लोग हथियारों के साथ लड़ाई में उतर आए और ब्रिटिश शासन के खिलाफ बड़ी संख्या में विद्रोहियों ने भाग लिया। कोल विद्रोह ने आदिवासियों की वन अधिकारों की रक्षा और भूमि पर उनके स्वामित्व के अधिकार के प्रति ब्रिटिश सरकार को कड़ी चेतावनी दी। यह विद्रोह भारतीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण आदिवासी संघर्ष के रूप में गिना जाता है, जो वनों और भूमि पर आदिवासी अधिकारों को बहाल करने के लिए लड़ा गया था।

3.1 आदिवासी जीवनशैली और वनों पर निर्भरता

झारखंड के कोल जनजाति अपनी पारंपरिक जीवनशैली में पूरी तरह से वनों पर आधारित थे। उनके लिए वनों का मतलब था भोजन, लकड़ी, औषधियाँ, फाइबर, घास और अन्य आवश्यक संसाधन। जंगल उनके जीवन का केंद्र थे, जहां से वे अपनी आजीविका, सामाजिक और सांस्कृतिक पहचान प्राप्त करते थे। उनका यह पारंपरिक अधिकार ब्रिटिश शासन की नीतियों द्वारा छीन लिया गया। ब्रिटिश साम्राज्य ने झारखंड की भूमि और वनों पर अपना नियंत्रण स्थापित करने के लिए जमींदारों और व्यापारियों को सहायता दी।

ब्रिटिश प्रशासन ने न केवल इन संसाधनों पर अधिकार जमाया, बल्कि इन पर कर भी लगाए, जिससे कोल जनजाति की जीवन-व्यवस्था पूरी तरह से बाधित हो गई। ये कर जंगल से प्राप्त वन उत्पादों जैसे लकड़ी, बांस, सब्जियाँ, फल, और औषधियों पर लगाए गए थे, जिन्हें कोल जनजाति अपनी जीविका के लिए महत्वपूर्ण मानते थे। जंगलों की लकड़ी, जो उनके घरों और खेती के औजारों के निर्माण में आवश्यक थी, अब उनके लिए दूरस्थ हो गई।

3.2 कोल विद्रोह का उत्पन्न होना

कोल जनजाति के जंगलों पर ब्रिटिश शासन और स्थानीय जमींदारों के कब्जे के खिलाफ आक्रोश बढ़ता गया। ब्रिटिश शासन ने आदिवासी समुदायों को वनों का उपयोग करने से प्रतिबंधित कर दिया और उनके पारंपरिक अधिकारों को छीन लिया। इस अतिक्रमण के कारण कोल जनजाति की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रणाली पर गहरा संकट आया। उन्होंने अपनी आजीविका के स्रोतों और पारंपरिक अधिकारों को पुनः प्राप्त करने के लिए संघर्ष करना शुरू कर दिया।

1831-1832 के इस विद्रोह में कोल जनजाति ने ब्रिटिश शासन के खिलाफ सशस्त्र संघर्ष का मार्ग अपनाया। वे अपनी परंपरागत संगठित प्रणालियों के तहत एकजुट हुए और ब्रिटिश प्रशासन के खिलाफ विद्रोह के हथियार उठाए। इस संघर्ष में कोल जनजाति के हजारों लोगों ने भाग लिया। वे ब्रिटिश प्रशासन के खिलाफ अपनी भूमि और जंगलों की रक्षा के लिए साहसपूर्वक लड़े। यह विद्रोह केवल एक विरोध या विरोध प्रदर्शन नहीं था, बल्कि एक निर्णायक संघर्ष था, जो आदिवासियों द्वारा अपनी जीविका और स्वायत्तता के अधिकार के लिए लड़ा गया था।

3.3 कोल विद्रोह का प्रभाव और आदिवासी अधिकारों की रक्षा

कोल विद्रोह ने ब्रिटिश प्रशासन को झारखंड के आदिवासियों की स्थिति के बारे में गंभीरता से सोचने पर मजबूर किया। इस संघर्ष के माध्यम से आदिवासी समुदाय ने अपने अधिकारों की रक्षा के लिए एक स्वर उठाया। कोल विद्रोह ने ब्रिटिश सरकार को स्पष्ट संदेश दिया कि आदिवासी अपने जीवन की बुनियाद, जंगलों और भूमि पर अपने अधिकारों को छीनने का विरोध करेंगे।

कोल विद्रोह भारतीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण आदिवासी संघर्ष के रूप में गिना जाता है, जिसने आदिवासी अधिकारों के लिए ब्रिटिश सरकार को कठोर चेतावनी दी। यह विद्रोह न केवल

झारखंड, बल्कि पूरे भारत में वनों और भूमि के अधिकारों के मुद्दे पर आदिवासी समुदायों के संघर्ष की दिशा को स्पष्ट करता है।

3.4 वृहत परिप्रेक्ष्य में कोल विद्रोह

कोल विद्रोह केवल झारखंड के कोल जनजाति के लिए ही महत्वपूर्ण नहीं था, बल्कि यह पूरे देश में आदिवासी समुदायों के अधिकारों के लिए संघर्ष का प्रतीक बन गया। ब्रिटिश शासन की नीतियाँ आदिवासी समुदायों को अपने पारंपरिक जीवनशैली और संसाधनों से वंचित करने की दिशा में थीं, लेकिन कोल विद्रोह ने इस स्थिति को बदलने का प्रयास किया।
इस विद्रोह ने ब्रिटिश प्रशासन को यह सोचने पर मजबूर किया कि आदिवासी समुदायों को उनकी पारंपरिक भूमि, वनों, और उनके जीवन के साधनों से वंचित करना केवल संघर्ष और विरोध को जन्म देगा। विद्रोह के बाद, ब्रिटिश सरकार ने आदिवासी इलाकों में कुछ मामूली सुधारों की ओर कदम बढ़ाए, जैसे कि वनों के अधिकार को लेकर कुछ कानून बनाए गए, जो कुछ हद तक आदिवासियों के हितों की रक्षा कर सके।

3.5 आदिवासी अधिकारों के संरक्षण और कोल विद्रोह की प्रासंगिकता

आज भी कोल विद्रोह की प्रासंगिकता बनी हुई है। झारखंड में आदिवासी अधिकारों के संरक्षण के लिए संघर्ष अभी भी जारी है। वनों, जल स्रोतों और भूमि पर आदिवासियों के अधिकारों की रक्षा के लिए कई संगठन और आंदोलन सक्रिय हैं। कोल विद्रोह के परिणामस्वरूप आदिवासी समुदायों को मिले अधिकार और आत्म-सम्मान ने उन्हें आत्म-निर्भरता की दिशा में प्रेरित किया है।
आज भी वनों और भूमि पर आदिवासी समुदायों के अधिकारों को सुनिश्चित करने के लिए कई मुद्दे बने हुए हैं, जैसे कि जल, जंगल, जमीन और खनिज संसाधनों पर उनका नियंत्रण। कोल विद्रोह ने यह दिखाया कि संघर्ष से ही अधिकार की प्राप्ति संभव होती है।
इसलिए, कोल विद्रोह केवल एक ऐतिहासिक घटना नहीं है, बल्कि यह आदिवासी समुदायों की सांस्कृतिक पहचान, वनों पर अधिकार, और उनकी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए एक महत्वपूर्ण मील का पत्थर है। यह संघर्ष आज भी झारखंड और भारत के अन्य हिस्सों में आदिवासी अधिकारों के संरक्षण के लिए एक प्रेरणा स्रोत है।

3.5.1 कंडाली संघर्ष (1873-1874)

कंडाली संघर्ष (1873-1874) ब्रिटिश शासन के खिलाफ एक महत्वपूर्ण जनजातीय विद्रोह था, जो मुख्य रूप से झारखंड के आदिवासी समुदायों, विशेषकर हूल और उरांव जनजातियों द्वारा लड़ा गया था। यह विद्रोह वन संसाधनों पर ब्रिटिश सरकार के नियंत्रण और उनके उत्पीड़न के खिलाफ हुआ था, जिससे आदिवासी समुदायों की पारंपरिक जीवनशैली और आजीविका संकट में आ गई थी।

3.5.2 वन संसाधनों पर ब्रिटिश नियंत्रण और आदिवासी समुदायों की समस्या

झारखंड सहित भारत के विभिन्न हिस्सों में आदिवासी समुदाय, विशेषकर जनजातीय समुदाय, अपने पारंपरिक जीवन के लिए वन संसाधनों पर निर्भर थे। इन वनों से वे भोजन, लकड़ी, शहद, रेजिन, औषधियां और अन्य आवश्यक वस्त्र प्राप्त करते थे। इन वन संसाधनों से आदिवासी समुदाय का न केवल भौतिक लाभ होता था, बल्कि उनकी सामाजिक और सांस्कृतिक पहचान भी इन जंगलों से गहरे रूप से जुड़ी हुई थी।

हालांकि, ब्रिटिश शासन ने औपनिवेशिक नीति के तहत इन वन संसाधनों पर अपना अधिकार जमाने का प्रयास किया। ब्रिटिश सरकार ने आदिवासी समुदायों को वनों से वंचित करने और उन पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए कई कठोर कदम उठाए। इस नियंत्रण का मुख्य कारण वनों के प्राकृतिक संसाधनों का वाणिज्यिक उपयोग था, जिसका उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य की औद्योगिक प्रगति और आर्थिक लाभ था।

3.5.3 जंगलों पर कर प्रणाली और ब्रिटिश शासन का हस्तक्षेप

ब्रिटिश शासन ने आदिवासी समुदायों से वनों पर उत्पादित होने वाले विभिन्न वन संसाधनों जैसे लकड़ी, रेजिन, शहद, बांस, और अन्य वन्य उत्पादों पर कर लगाने शुरू कर दिए थे। इन करों को वसूलने का उद्देश्य ब्रिटिश प्रशासन को वनों से आर्थिक लाभ प्राप्त करना था। इससे आदिवासी समुदायों की आजीविका पर गहरा प्रभाव पड़ा, क्योंकि उनके लिए इन संसाधनों पर निर्भर रहना आवश्यक था।

लकड़ी जैसे महत्वपूर्ण संसाधन पर कर लगाने से आदिवासी समुदायों के पास अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए लकड़ी की कमी हो गई। वे अपनी पारंपरिक जीवनशैली में इस संसाधन का उपयोग करते थे, लेकिन ब्रिटिश शासन द्वारा लगाए गए करों के कारण उन्हें

अतिरिक्त दबाव झेलना पड़ा। कर प्रणाली ने आदिवासी समुदायों को वनों से बाहर कर दिया और उनके पारंपरिक अधिकारों को छीन लिया।

3.5.4 वाणिज्यिक शोषण और जंगलों पर एकाधिकार

ब्रिटिश शासन के वन नीति की एक प्रमुख विशेषता वन संसाधनों का वाणिज्यिक शोषण था। ब्रिटिश सरकार ने वनों को एक औद्योगिक स्रोत के रूप में देखा और उन्हें अपने व्यापारिक हितों के लिए उपयोग में लाया। लकड़ी, रेजिन, शहद, और अन्य वन उत्पादों का बड़े पैमाने पर व्यापार किया गया, जिससे ब्रिटिश औद्योगिक जरूरतों की पूर्ति हुई।

यह वन उत्पाद उनके लिए न केवल घरेलू बाजारों में उपयोगी थे, बल्कि ब्रिटिश औद्योगिक क्रांति की मांगों को पूरा करने के लिए भी आवश्यक थे। ब्रिटिश शासन ने आदिवासियों को इन संसाधनों से वंचित कर दिया और उन्हें वाणिज्यिक उत्पादकता के लिए वनों की उपयोगिता से अलग कर दिया। यह वन संसाधनों पर उनके पारंपरिक अधिकारों का उपहास था।

इस वाणिज्यिक शोषण ने आदिवासी समुदायों को एक ओर तो उनकी आजीविका से वंचित कर दिया, और दूसरी ओर उन्हें अपने पारंपरिक ज्ञान और वन प्रबंधन प्रणाली से भी काट दिया। आदिवासियों ने सदियों से वनों का प्रबंधन अपनी परंपरागत व्यवस्था के तहत किया था, लेकिन ब्रिटिश शासन ने इस प्रणाली को पूरी तरह से खत्म कर दिया।

3.5.5 भूमि और वनों पर अधिकारों की छीनाझपटी

ब्रिटिश शासन ने केवल वन संसाधनों पर नियंत्रण ही नहीं किया, बल्कि आदिवासी समुदायों की भूमि पर भी अधिकार जमाने का प्रयास किया। उन्हें उनकी पारंपरिक भूमि से बेदखल कर दिया गया और यह भूमि ब्रिटिश सरकार या उनके समर्थक व्यापारियों के नियंत्रण में चली गई। यह भूमि और वनों पर अधिकार की छीनाझपटी आदिवासियों के लिए जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं के लिए संकट पैदा करने वाली बन गई।

ब्रिटिश प्रशासन ने वनों और भूमि पर अधिकार के नाम पर अलग-अलग कानून बनाए, जैसे जंगलों को वन संरक्षण अधिनियम (1865) और अन्य अधिनियमों के तहत वर्गीकृत किया गया। इन अधिनियमों ने आदिवासी समुदायों को वनों से वंचित कर दिया और उन्हें जंगलों के उपयोग के अधिकार से वाकिफ कर दिया। इन उपायों के कारण आदिवासी समुदायों को उनकी पारंपरिक जीवन शैली और आजीविका के स्रोत से वंचित होना पड़ा।

3.5.6 पारंपरिक वन जीवन को खतरा

वन संसाधनों पर ब्रिटिश शासन के नियंत्रण ने आदिवासी समुदायों की पारंपरिक जीवनशैली को भी खतरे में डाल दिया। जंगल केवल उनके लिए संसाधन नहीं थे, बल्कि वे इस भूमि पर ही अपने समाज, संस्कृति, और जीवन मूल्यों को विकसित करते थे। इस पारंपरिक वन जीवन के बिना उनकी संस्कृति, धर्म, और सामाजिक संरचना भी कमजोर हो गई।
ब्रिटिश शासन ने आदिवासी समुदायों को उनकी पारंपरिक ज्ञान प्रणाली से भी अलग कर दिया। जंगल में रहने वाले आदिवासी अपने पारंपरिक वन प्रबंधन तंत्र को जानते थे, जिसमें जंगलों की देखभाल, वृक्षारोपण, पशु संरक्षण, और आवश्यक संसाधनों के सही उपयोग की प्रणाली शामिल थी। लेकिन ब्रिटिश शासन ने इस प्रणाली को औपनिवेशिक विचारों के तहत नकार दिया और नई वन नीति लागू की, जो आदिवासी समुदायों के लिए बेहद हानिकारक रही।

3.5.7 आजादी के बाद भी अधिकारों की बहाली की संघर्षपूर्ण यात्रा

आजादी के बाद भी आदिवासी समुदाय अपने पारंपरिक वन अधिकारों की बहाली के लिए संघर्षरत हैं। हालांकि कुछ कानून जैसे वन अधिकार अधिनियम (2006) ने आदिवासी समुदायों को वनों और भूमि पर अधिकार की ओर कदम उठाने का प्रयास किया, लेकिन आज भी उनकी समस्याएं पूरी तरह से हल नहीं हुई हैं। कंडाली, कोल और अन्य विद्रोहों ने यह साबित कर दिया कि आदिवासी समुदाय अपने अधिकारों की रक्षा के लिए संघर्ष करने को तैयार थे, लेकिन उनकी समस्याएं आज भी एक गंभीर चिंता का विषय बनी हुई हैं।
इसलिए, ब्रिटिश शासन के वन नियंत्रण ने आदिवासी समुदायों को उनके पारंपरिक अधिकारों और वन जीवन से वंचित कर दिया, जो आज भी उनकी वर्तमान स्थिति पर प्रभाव डाल रहा है। आदिवासी समुदायों की जीवनशैली को संरक्षित करने के लिए उनकी पारंपरिक अधिकारों की बहाली आवश्यक है, ताकि वे अपनी सांस्कृतिक पहचान और परंपरागत जीवन को पुनर्जीवित कर सकें।

3.6 कंडाली संघर्ष का उद्भव और उद्देश्य

कंडाली संघर्ष का उद्भव ब्रिटिश शासन की इसी नीतियों के खिलाफ हुआ था। झारखंड की हूल और उरांव जनजातियों ने अपनी भूमि और वन संसाधनों पर स्वामित्व की रक्षा के लिए संगठित

होकर इस विद्रोह में भाग लिया। उनके विरोध का मुख्य कारण यह था कि ब्रिटिश सरकार ने जंगलों पर अधिकार के नाम पर कर प्रणाली लागू की थी, जो आदिवासी समुदायों की आजीविका के लिए हानिकारक थी।

यह विद्रोह केवल करों के विरोध तक सीमित नहीं था, बल्कि आदिवासी समुदायों द्वारा अपनी संस्कृति, पारंपरिक जीवनशैली और भूमि पर अधिकार की रक्षा के लिए किया गया संघर्ष था। कंडाली संघर्ष ने स्पष्ट कर दिया कि आदिवासी समुदाय अपनी जीविका, संस्कृति और पहचान की रक्षा के लिए सशक्त कदम उठाने को तैयार थे।

3.6.1 संगठित प्रतिरोध और संघर्ष की रणनीतियां

कंडाली संघर्ष में आदिवासी जनजातियों ने न केवल करों के खिलाफ संघर्ष किया, बल्कि ब्रिटिश शासन के वनों पर नियंत्रण और वन उत्पादों के शोषण के खिलाफ सशक्त विरोध भी किया। उन्होंने अपनी परंपरागत वन प्रबंधन प्रणाली को पुनर्जीवित करने की कोशिश की और जंगलों पर ब्रिटिश सरकार के एकाधिकार को चुनौती दी।

इस संघर्ष में आदिवासी जनजातियों ने न केवल अपनी भूमि और जंगलों पर स्वामित्व की रक्षा के लिए सशस्त्र संघर्ष किया, बल्कि वे अपने पारंपरिक अधिकारों के लिए राजनीतिक और सामाजिक रूप से भी संगठित हुए। उन्होंने अपनी पारंपरिक शस्त्र व्यवस्था के तहत ब्रिटिश प्रशासन के खिलाफ विरोध प्रदर्शन किया, जिससे ब्रिटिश शासन को उनके अधिकारों को मान्यता देने के लिए विवश होना पड़ा।

3.6.2 कंडाली संघर्ष का प्रभाव और इसके नतीजे

कंडाली संघर्ष झारखंड के आदिवासी समुदायों के अधिकारों की रक्षा के लिए ब्रिटिश शासन के खिलाफ उठाई गई प्रमुख आवाज़ थी। इस संघर्ष ने ब्रिटिश प्रशासन को झारखंड की आदिवासी जनजातियों के सामने उनके पारंपरिक अधिकारों को सुनिश्चित करने के लिए बाध्य किया। हालांकि, यह संघर्ष असफल रहा, लेकिन इसके परिणामस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने आदिवासी समुदायों के अधिकारों को लेकर कुछ बदलाव किए, जैसे कि वन अधिकार अधिनियम (1889) में कुछ प्रावधान, जो आदिवासियों को वन उत्पादों पर अधिकार देने की दिशा में उठाए गए थे।

हालांकि, आदिवासियों को अधिकार दिलाने के इन प्रयासों का वास्तविक क्रियान्वयन प्रभावी नहीं हुआ, और कंडाली संघर्ष के बावजूद आदिवासियों को अपनी भूमि और वनों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं हो सका। बावजूद इसके, कंडाली संघर्ष ने भारतीय इतिहास में आदिवासी आंदोलनों की दिशा को प्रभावित किया और यह दिखाया कि आदिवासी समुदाय अपनी पहचान, जीवनशैली और पारंपरिक अधिकारों की रक्षा के लिए संघर्ष करने को तत्पर थे।

3.6.3 आधुनिक संदर्भ में कंडाली संघर्ष की प्रासंगिकता

आज भी झारखंड और अन्य आदिवासी बहुल क्षेत्रों में वनों और भूमि पर अधिकारों को लेकर संघर्ष जारी है। आदिवासी समुदायों के अधिकारों की रक्षा के लिए विभिन्न आंदोलन सक्रिय हैं, और कंडाली संघर्ष ने इस दिशा में आदिवासी समुदायों को एकजुट और जागरूक करने का कार्य किया।

इस संघर्ष ने यह भी दिखाया कि आदिवासी समुदायों को अपनी सांस्कृतिक पहचान, वनों और भूमि पर अधिकार की रक्षा के लिए केवल राजनीतिक समर्थन ही नहीं, बल्कि अपनी स्वयं की शक्ति और संगठित प्रयासों की भी आवश्यकता है।

इसलिए, कंडाली संघर्ष आदिवासी प्रतिरोध की ऐतिहासिक पहचान और उनके अधिकारों की रक्षा के लिए किए गए संघर्ष का प्रतीक बन गया है। यह संघर्ष आज भी आदिवासी अधिकारों की बहाली के लिए प्रेरणा देता है और उनके संघर्ष की लंबी परंपरा को समृद्ध करता है।

3.7 चिपको आंदोलन

यह आंदोलन उत्तराखंड में हुआ, जहां पहले की तरह आदिवासी समुदायों का जीवन जंगलों और वन संसाधनों पर निर्भर था। चिपको आंदोलन में जनजातीय और ग्रामीण समुदायों ने उन वृक्षों को बचाने के लिए विरोध किया जो उनके लिए जीवनदायिनी थे, और इस आंदोलन में उनकी प्रेरणा औपनिवेशिक काल के संघर्षों से मिली थी। चिपको आंदोलन, हालांकि यह 1973 में हुआ, लेकिन यह पूर्वकालीन संघर्षों का परिणाम था|

चिपको आंदोलन, भारत में 1970 के दशक में ग्रामीण ग्रामीणों, विशेष रूप से महिलाओं द्वारा अहिंसक सामाजिक और पारिस्थितिक आंदोलन, जिसका उद्देश्य सरकार द्वारा समर्थित कटाई के लिए निर्धारित पेड़ों और जंगलों की रक्षा करना था। यह आंदोलन 1973 में उत्तराखंड (तब

उत्तर प्रदेश का हिस्सा) के हिमालयी क्षेत्र में शुरू हुआ और जल्दी ही पूरे भारतीय हिमालय में फैल गया। हिंदी शब्द चिपको का अर्थ है "गले लगाना" या "चिपकना" और यह प्रदर्शनकारियों की प्राथमिक रणनीति को दर्शाता है, जिसमें वे लकड़हारों को रोकने के लिए पेड़ों को गले लगाते हैं।

3.7.1 पृष्ठभूमि

झारखंड, जिसे पहले बिहार के हिस्से के रूप में देखा जाता था, भारतीय उपमहाद्वीप में विशेष भौगोलिक, सामाजिक और आर्थिक स्थितियों के लिए जाना जाता है। यह क्षेत्र विशेष रूप से अपनी प्राकृतिक संसाधनों की प्रचुरता, आदिवासी जनजातीय समुदायों, और अतीत में औपनिवेशिक शासन के खिलाफ संघर्षों के लिए जाना जाता है। झारखंड की भौगोलिक स्थिति इसे एक समृद्ध और विविधितापूर्ण क्षेत्र बनाती है। इसकी पहाड़ी और ढालदार भूमि, झरने, नदियाँ, जंगल, और खनिज संपदा, झारखंड को प्राकृतिक संसाधनों का खजाना बनाती है। इस क्षेत्र में विशाल वन क्षेत्र, जैव विविधता, और खनिज संपदा महत्वपूर्ण हैं, जो स्थानीय समुदायों की जीवनशैली और अर्थव्यवस्था पर गहरा प्रभाव डालते हैं। चिपको आंदोलन (1973) भी झारखंड के वन क्षेत्र और आदिवासी संघर्षों की पृष्ठभूमि में एक महत्वपूर्ण घटना है। उत्तराखंड में शुरू हुआ यह आंदोलन उत्तराखंड से बाहर अन्य स्थानों, विशेष रूप से झारखंड में, स्थानीय समुदायों को जंगलों के संरक्षण के लिए प्रेरित करने में मददगार साबित हुआ। झारखंड में आदिवासी समुदायों ने चिपको आंदोलन के सिद्धांतों को अपनाया और अपने पारंपरिक अधिकारों की रक्षा के लिए पेड़ों से लिपटकर संघर्ष किया। जंगलों से वाणिज्यिक लकड़ी निकालने की सरकारी नीतियों के खिलाफ स्थानीय जनजातीय समुदायों ने अपनी एकजुटता दिखाते हुए जलवायु परिवर्तन और वनक्षरण के प्रभावों का सामना किया।

3.7.2 झारखंड की भौगोलिक और सामाजिक पृष्ठभूमि

झारखंड की भौगोलिक विशेषताएँ इसे अन्य भारतीय राज्यों से भिन्न बनाती हैं। यह पूर्वी भारत के छत्तीसगढ़, ओडिशा, पश्चिम बंगाल, और बिहार से घिरा हुआ है। झारखंड के भूगोल की सबसे प्रमुख विशेषता इसकी ढालदार पहाड़ियाँ और ढलान वाले क्षेत्र हैं। यहाँ की जमीन समृद्ध खनिज संपदा और प्रचुर वन संसाधनों से भरपूर है। इसकी जलवायु की विविधता, जिसमें मानसूनी वर्षा और समशीतोष्ण जलवायु शामिल है, ने यहाँ की जैव विविधता को समृद्ध बनाया है।

झारखंड की मुख्य पहचान इसके आदिवासी समुदायों से है। यहाँ की 26% जनसंख्या आदिवासियों की है, जो विभिन्न जातीय समूहों के रूप में विभाजित हैं। इन समुदायों ने प्राचीन काल से झारखंड के वन और खनिज संसाधनों पर नियंत्रण रखा है। वे जंगलों, भूमि, और पानी पर अपनी पारंपरिक जीवनशैली पर निर्भर रहते हैं। झारखंड की इन आदिवासी जनजातियों में मुण्डा, संथाल, ओरांव, हो, और खरवार प्रमुख हैं। इन समुदायों ने सदियों से अपने परंपरागत सामाजिक ढांचे, सांस्कृतिक रीति-रिवाजों, और जंगल आधारित जीवन शैली को संरक्षित किया है।

3.7.3 वन संसाधनों की प्रचुरता और उनकी आर्थिक और सांस्कृतिक महत्ता

झारखंड के वन क्षेत्र इसकी मुख्य विशेषताओं में से एक हैं। यहाँ के जंगल न केवल वन्य जीवों और जैव विविधता के लिए महत्वपूर्ण हैं, बल्कि स्थानीय आदिवासी समुदायों की आर्थिक और सांस्कृतिक पहचान के लिए भी अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। झारखंड में स्थित बड़े जंगलों और पहाड़ियों के कारण, इन क्षेत्रों में वनों की प्रचुरता है। इन जंगलों से प्राप्त वन संसाधनों में लकड़ी, रेजिन, बांस, शहद, जड़ी-बूटियाँ, और औषधियाँ शामिल हैं, जो स्थानीय समुदायों की पारंपरिक जीवनशैली के लिए आवश्यक हैं।
वन संसाधनों की प्रचुरता ने यहाँ के आदिवासी समुदायों को मुख्य आजीविका के स्रोत प्रदान किए हैं। वे इन संसाधनों से भोजन, ईंधन, और कच्चा माल प्राप्त करते हैं। वन क्षेत्र की उपस्थिति के कारण ही, झारखंड की आदिवासी जनजातियों की परंपरागत खेती, बांस और लकड़ी का उपयोग, औषधियों और जड़ी-बूटियों का संग्रहण, और जल और मिट्टी का प्रबंधन अनिवार्य रूप से इस क्षेत्र की अर्थव्यवस्था को स्थिर रखने में मदद करता है।

3.7.4 औपनिवेशिक शासन के दौरान वन संसाधनों पर ब्रिटिश नियंत्रण

झारखंड जैसे क्षेत्रों की विशेषताएँ औपनिवेशिक शासन के लिए आकर्षक थीं। ब्रिटिश शासन ने औपनिवेशिक महत्वाकांक्षाओं के तहत इन संसाधनों पर नियंत्रण स्थापित करना शुरू किया। यह संघर्ष झारखंड की आदिवासी जनजातियों के लिए एक बड़ी समस्या बन गया। ब्रिटिश शासन ने यहाँ के प्राकृतिक संसाधनों को व्यापारिक उद्देश्यों के लिए उपभोग किया और स्थानीय समुदायों को इन संसाधनों के उपयोग से वंचित कर दिया।

ब्रिटिश प्रशासन ने वन संसाधनों पर नियंत्रण के लिए नई नीतियाँ बनाईं, जैसे कि वनों की कटाई पर कर और अधिकार, वन भूमि के औपनिवेशिक हस्तांतरण, और वन विभाग के नियंत्रण की स्थापना। आदिवासी जनजातियों की पारंपरिक जमीन और वन अधिकारों को छीन लिया गया। जंगलों से संसाधनों की वाणिज्यिक प्राप्ति ने आदिवासियों के पारंपरिक रूप से वन आधारित जीवन को प्रभावित किया।

3.7.5 कोल विद्रोह और कंडाली संघर्ष: आदिवासी प्रतिरोध

ब्रिटिश शासन के इन हस्तक्षेपों और वन संसाधनों पर नियंत्रण की नीतियों के खिलाफ कई जनजातीय संघर्ष हुए। झारखंड के कोल और संथाल जनजातियों ने इन नीतियों के खिलाफ आवाज उठाई और सशस्त्र संघर्ष शुरू किए। कोल विद्रोह (1831-1832) और कंडाली संघर्ष (1873-1874) जैसे आंदोलनों ने ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन को इस क्षेत्र में आदिवासी अधिकारों की रक्षा के लिए मजबूर किया।

कोल विद्रोह में, कोल जनजाति ने अपने पारंपरिक वन अधिकारों की रक्षा के लिए ब्रिटिश प्रशासन के खिलाफ संघर्ष किया। वे जंगलों से लकड़ी और अन्य संसाधनों की वाणिज्यिक प्राप्ति को अस्वीकार करते हुए उनके संरक्षण की मांग कर रहे थे। इसी तरह, कंडाली संघर्ष में भी स्थानीय समुदायों ने अपनी भूमि और वनों पर अधिकार की रक्षा के लिए ब्रिटिश शासन के खिलाफ संघर्ष किया।

इन संघर्षों ने झारखंड के आदिवासी समुदायों की शक्ति और उनके वन संसाधनों के प्रति संवेदनशीलता को प्रदर्शित किया। इन आंदोलनों ने ब्रिटिश प्रशासन को यह समझने के लिए मजबूर किया कि स्थानीय समुदायों के वन अधिकारों को बहाल करना अनिवार्य है।

3.7.6 वर्तमान परिप्रेक्ष्य में झारखंड

वर्तमान में झारखंड में, वन संसाधनों का संरक्षण और आदिवासी समुदायों के अधिकारों की रक्षा करना एक महत्वपूर्ण मुद्दा है। झारखंड के विकास के साथ-साथ यहाँ के वन क्षेत्र और प्राकृतिक संसाधनों की रक्षा को लेकर स्थानीय समुदायों की भागीदारी अत्यंत आवश्यक है। वर्तमान सरकारों और नीति निर्माताओं को इन समुदायों की परंपरागत भूमि अधिकारों की रक्षा और उन्हें प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग में भागीदार बनाने की दिशा में प्रयास करना होगा।

वर्तमान में झारखंड में कई गैर-सरकारी संगठन (NGOs) और आदिवासी संगठन वन संरक्षण, जलवायु परिवर्तन, और जैव विविधता के लिए काम कर रहे हैं। वे स्थानीय समुदायों को उनके पारंपरिक अधिकारों के प्रति जागरूक कर रहे हैं और वन संरक्षण के लिए समर्पित प्रयासों की दिशा में मार्गदर्शन प्रदान कर रहे हैं। इस प्रकार, झारखंड के वन संसाधनों पर ब्रिटिश शासन द्वारा नियंत्रण और स्थानीय समुदायों द्वारा उनके संरक्षण के लिए किए गए संघर्षों की पृष्ठभूमि ने इस क्षेत्र के विकास, संरक्षण, और जैव विविधता के संरक्षण के महत्व को स्पष्ट किया है।

3.7.7 आंदोलन

1964 में पर्यावरणविद् और गांधीवादी सामाजिक कार्यकर्ता चंडी प्रसाद भट्ट ने स्थानीय संसाधनों का उपयोग करके ग्रामीण ग्रामीणों के लिए छोटे उद्योगों को बढ़ावा देने के लिए एक सहकारी संगठन, दशोली ग्राम स्वराज्य संघ (बाद में इसका नाम बदलकर दशोली ग्राम स्वराज्य मंडल [DGSM] कर दिया गया) की स्थापना की। जब औद्योगिक कटाई को 1970 में क्षेत्र में 200 से अधिक लोगों की जान लेने वाली भयंकर मानसून बाढ़ से जोड़ा गया, तो DGSM बड़े पैमाने के उद्योग के खिलाफ विरोध की एक ताकत बन गया। अप्रैल 1973 में ऊपरी अलकनंदा घाटी में मंडल गांव के पास पहला चिपको विरोध प्रदर्शन हुआ था। कृषि उपकरण बनाने के लिए कुछ पेड़ों तक पहुंच से वंचित होने के कारण ग्रामीणों में तब आक्रोश फैल गया जब सरकार ने एक खेल के सामान बनाने वाली कंपनी को एक बहुत बड़ा भूखंड आवंटित किया। जब उनकी अपील को अस्वीकार कर दिया गया, तो चंडी प्रसाद भट्ट ग्रामीणों को जंगल में ले गए और पेड़ों को गले लगाकर कटाई को रोक दिया। कई दिनों के विरोध प्रदर्शन के बाद, सरकार ने कंपनी के लॉगिंग परमिट को रद्द कर दिया और डीजीएसएम द्वारा अनुरोधित मूल आवंटन को मंजूरी दे दी। मंडल में सफलता के साथ, डीजीएसएम कार्यकर्ताओं और स्थानीय पर्यावरणविद् सुंदरलाल बहुगुणा ने पूरे क्षेत्र में अन्य गांवों के लोगों के साथ चिपको की रणनीति साझा करना शुरू कर दिया। अगला बड़ा विरोध प्रदर्शन 1974 में रेनी गांव के पास हुआ, जहां 2,000 से अधिक पेड़ों को काटा जाना था। छात्रों के नेतृत्व में एक बड़े प्रदर्शन के बाद, सरकार ने आसपास के गांवों के लोगों को मुआवजे के लिए पास के शहर में बुलाया, जाहिर तौर पर लकड़हारे को बिना किसी टकराव के आगे बढ़ने की अनुमति देने के लिए। हालांकि, गौरा देवी के नेतृत्व में गांव की महिलाओं ने उनका सामना किया, जिन्होंने जंगल से बाहर जाने से इनकार कर दिया और अंततः लकड़हारों को वापस जाने के लिए मजबूर कर दिया। रेनी में कार्रवाई ने राज्य सरकार को अलकनंदा घाटी में

वनों की कटाई की जांच के लिए एक समिति गठित करने के लिए प्रेरित किया और अंततः क्षेत्र में वाणिज्यिक कटाई पर 10 साल का प्रतिबंध लगा दिया।

इस प्रकार चिपको आंदोलन वन अधिकारों के लिए किसानों और महिलाओं के आंदोलन के रूप में उभरने लगा, हालांकि विभिन्न विरोध काफी हद तक विकेंद्रीकृत और स्वायत्त थे। विशिष्ट "पेड़ गले लगाने" के अलावा, चिपको प्रदर्शनकारियों ने महात्मा गांधी की सत्याग्रह (अहिंसक प्रतिरोध) की अवधारणा पर आधारित कई अन्य तकनीकों का उपयोग किया। उदाहरण के लिए, बहुगुणा ने 1974 में वन नीति का विरोध करने के लिए दो सप्ताह तक उपवास किया। 1978 में, टिहरी गढ़वाल जिले के अडवाणी जंगल में, चिपको कार्यकर्ता धूम सिंह नेगी ने जंगल की नीलामी का विरोध करने के लिए उपवास किया, जबकि स्थानीय महिलाओं ने पेड़ों के चारों ओर पवित्र धागे बांधे और भगवद्गीता का पाठ किया। अन्य क्षेत्रों में, राल के लिए काटे गए चीड़ के पेड़ों (पिनस रॉक्सबर्गी) को उनके शोषण का विरोध करने के लिए पट्टी बांधी गई थी। 1978 में भ्यूंदर घाटी के पुलना गांव में, महिलाओं ने लकड़हारों के औजार जब्त कर लिए और रसीदें छोड़ दीं, ताकि अगर वे जंगल से बाहर निकल जाएं तो वे उनका दावा कर सकें। यह अनुमान लगाया जाता है कि 1972 और 1979 के बीच, चिपको आंदोलन में 150 से अधिक गांव शामिल थे, जिसके परिणामस्वरूप उत्तराखंड में 12 बड़े विरोध प्रदर्शन और कई छोटे टकराव हुए। आंदोलन की बड़ी सफलता 1980 में मिली, जब बहुगुणा की भारतीय प्रधान मंत्री इंदिरा गांधी से अपील के परिणामस्वरूप उत्तराखंड हिमालय में वाणिज्यिक कटाई पर 15 साल का प्रतिबंध लगा। हिमाचल प्रदेश और पूर्व उत्तराखंड में भी इसी तरह के प्रतिबंध लागू किए गए।

3.7.8 स्थायी प्रभाव

जैसे-जैसे आंदोलन आगे बढ़ा, विरोध अधिक परियोजना-उन्मुख होता गया और पूरे क्षेत्र की पारिस्थितिकी को शामिल करने के लिए विस्तारित हुआ, जो अंततः “हिमालय बचाओ” आंदोलन बन गया। 1981 और 1983 के बीच, बहुगुणा ने आंदोलन को प्रमुखता दिलाने के लिए हिमालय में 5,000 किलोमीटर (3,100 मील) की पदयात्रा की। 1980 के दशक में कई विरोध प्रदर्शनों पर ध्यान केंद्रित किया गया इन संघर्षों ने आदिवासियों के वन अधिकार की रक्षा की दिशा में अहम योगदान दिया और यह प्रमाणित किया कि जंगल और वन संसाधन जनजातीय समुदायों के अस्तित्व के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

चिपको आंदोलन, जो 1970 के दशक में उत्तराखंड के हिमालयी क्षेत्र में पर्यावरणीय संरक्षण के लिए हुआ, ने न केवल भारत में बल्कि विश्व स्तर पर भी एक महत्वपूर्ण स्थायी प्रभाव छोड़ा है। यह आंदोलन सामाजिक, राजनीतिक, और पर्यावरणीय दृष्टि से विभिन्न पहलुओं में बदलाव की दिशा में अग्रणी साबित हुआ। चिपको आंदोलन ने वन संसाधनों के संरक्षण, पारंपरिक समुदायों के अधिकारों की रक्षा, और टिकाऊ विकास के प्रति एक नई चेतना को जन्म दिया। इसके स्थायी प्रभाव को तीन मुख्य पहलुओं—पर्यावरणीय, सामाजिक, और नीतिगत—के तहत समझा जा सकता है।

3.7.9 पर्यावरणीय जागरूकता और संरक्षण का प्रभाव

चिपको आंदोलन ने वन संसाधनों के संरक्षण के महत्व को आम जनमानस के बीच जागरूक किया। हिमालयी क्षेत्रों में रहने वाले ग्रामीण और आदिवासी समुदायों ने पहली बार अनुभव किया कि उनके पारंपरिक वन अधिकार, जो उनके जीवन और आजीविका के लिए आवश्यक थे, खतरे में थे। आंदोलन ने यह संदेश दिया कि वन और जल स्रोत स्थानीय समुदायों की अर्थव्यवस्था और संस्कृति का अभिन्न हिस्सा हैं। इस जागरूकता ने उन्हें अपने पर्यावरण के प्रति जिम्मेदार बनाने में मदद की।

चिपको आंदोलन ने इस क्षेत्र में वनों की कटाई को रोकने के लिए सक्रिय रूप से विरोध किया। परिणामस्वरूप, सरकार और वन प्रबंधन संस्थाओं ने चिपको आंदोलन से प्रेरणा लेकर वन नीतियों में संशोधन किए और वन संरक्षण पर जोर देने लगे। इसने पर्यावरणीय संगठनों और समुदायों को वन संसाधनों के संरक्षण की दिशा में सक्रिय भूमिका निभाने के लिए प्रेरित किया।

3.7.10 स्थायी वन प्रबंधन और नीति बदलाव

चिपको आंदोलन ने वन प्रबंधन के पारंपरिक तरीकों को पुनर्जीवित किया और स्थायी वन प्रबंधन प्रणालियों को लागू करने की दिशा में नीतिगत सुधारों की नींव रखी। आंदोलन के बाद भारतीय वन नीति में बदलाव आया और 1988 में "राष्ट्रीय वन नीति" को लागू किया गया। इस नीति के तहत, प्राथमिक उद्देश्य वनों की बर्बादी को रोकना और स्थानीय समुदायों को वन प्रबंधन में शामिल करना था।

चिपको आंदोलन ने यह भी सुनिश्चित किया कि स्थानीय लोगों को वनों पर उनके पारंपरिक अधिकार दिए जाएं। स्थानीय समुदायों को वनों के संरक्षण और प्रबंधन में साझेदार बनाने का यह दृष्टिकोण न केवल भारतीय वन नीति में बल्कि वैश्विक स्तर पर भी वन प्रबंधन की दिशा में महत्वपूर्ण बदलाव की शुरुआत थी। इसने वन अधिकार अधिनियम, 2006 के लिए आधार तैयार किया, जो आज भी आदिवासी और वनवासी समुदायों को उनके वनों पर अधिकार प्रदान करता है।

3.7.10.1 स्थायी ग्रामीण आजीविका के लिए प्रेरणा

चिपको आंदोलन ने ग्रामीण और आदिवासी समुदायों को अपने जीवन और आजीविका को बनाए रखने के लिए स्थायी साधनों के महत्व के प्रति जागरूक किया। वनों से उनका पारंपरिक संबंध सिर्फ संसाधनों की प्राप्ति तक सीमित नहीं था, बल्कि उनका जीवन-यापन और सांस्कृतिक पहचान भी इससे जुड़ा था। आंदोलन ने यह समझाया कि वन संसाधनों का संरक्षण केवल जैव विविधता की रक्षा के लिए आवश्यक नहीं है, बल्कि यह स्थानीय लोगों के जीवन स्तर को बनाए रखने के लिए भी जरूरी है।

स्थायी जीवन शैली को बढ़ावा देने के लिए चिपको आंदोलन ने परंपरागत ज्ञान और प्रथाओं की रक्षा की और उन्हें स्थायी वन प्रबंधन के तरीके के रूप में प्रस्तुत किया। इसने अन्य क्षेत्रों में भी प्रेरणा दी कि कैसे स्थानीय समुदाय पारंपरिक तकनीकों को अपनाकर प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण कर सकते हैं।

3.7.10.2 वैश्विक स्तर पर पर्यावरणीय आंदोलन की प्रेरणा

चिपको आंदोलन ने न केवल भारत में बल्कि वैश्विक स्तर पर भी पर्यावरणीय आंदोलनों को प्रभावित किया। इसे दुनिया भर में एक प्रेरक उदाहरण के रूप में पहचाना गया, जहां स्थानीय समुदायों की सक्रिय भागीदारी और संरक्षण की शक्ति को रेखांकित किया गया। चिपको आंदोलन के बाद, अन्य देश भी इसी प्रकार के आंदोलनों से प्रेरित हुए, जहां पर्यावरणीय संसाधनों की रक्षा के लिए स्थानीय समुदायों की भागीदारी को प्रोत्साहित किया गया।

इसने विकसित देशों में भी जंगलों के संरक्षण, जलवायु परिवर्तन से निपटने, और टिकाऊ वन प्रबंधन के प्रति जागरूकता को बढ़ावा दिया। उदाहरण के लिए, दक्षिण अमेरिका और अफ्रीका

में भी स्थानीय समुदायों के अधिकारों को सुरक्षित करने के लिए चिपको आंदोलन का प्रभाव देखा गया।

3.7.11 लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं और सहभागिता की शक्ति

चिपको आंदोलन ने यह भी साबित किया कि स्थानीय समुदायों को उनकी पारंपरिक और प्राकृतिक संसाधनों पर अधिकार देने से उनके जीवन में सुधार हो सकता है। आंदोलन में महिलाओं, युवाओं, और आदिवासी समुदायों की भागीदारी ने लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं और सामुदायिक भागीदारी को बढ़ावा दिया। स्थानीय लोग अब निर्णय प्रक्रिया में भाग लेने लगे और वनों के संरक्षण के लिए समर्पित होकर काम करने लगे।

इसने लोकतांत्रिक संस्थानों को भी प्रभावित किया और सरकार को यह सोचने पर मजबूर किया कि स्थानीय समुदायों को निर्णय प्रक्रियाओं में शामिल किया जाए। परिणामस्वरूप, पारिस्थितिकीय संरक्षण की दिशा में राज्य और केंद्र सरकारों द्वारा नए कानून और नीतियां बनाई गईं।

चिपको आंदोलन का स्थायी प्रभाव भारत और वैश्विक स्तर पर पर्यावरणीय संरक्षण के दृष्टिकोण को आकार देने में महत्वपूर्ण रहा है। यह आंदोलन न केवल वन संरक्षण के महत्व की ओर जागरूकता फैलाने में सफल हुआ, बल्कि स्थानीय समुदायों को उनके अधिकार और पारंपरिक वन प्रबंधन प्रणालियों को पुनः प्राप्त करने के लिए भी प्रेरित किया। चिपको आंदोलन ने समाज, राजनीति, और पर्यावरणीय नीतियों में बदलाव की नींव रखी, जिससे अब तक की पीढ़ियाँ लाभान्वित हो रही हैं। यह आंदोलन पर्यावरणीय जागरूकता, स्थानीय समुदायों की भागीदारी, और टिकाऊ विकास की दिशा में एक मील का पत्थर बन गया है।

अध्याय 4

औपनिवेशिकोत्तर शासन के खिलाफ वन संसाधनों की पहुंच के लिए जनजातीय संघर्षों के ऐतिहासिक साक्ष्य

औपनिवेशिकोत्तर शासन के खिलाफ वन संसाधनों की पहुंच के लिए जनजातीय संघर्षों के ऐतिहासिक साक्ष्य 1947 के बाद भारत में भी विभिन्न आदिवासी समुदायों के संघर्षों के रूप में देखे गए। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी, आदिवासी समुदायों को उनके वन संसाधनों पर ऐतिहासिक अधिकारों के खिलाफ कई कानूनी और प्रशासनिक बाधाओं का सामना करना पड़ा। हालांकि औपनिवेशिक शासन के बाद अधिकारों में कुछ सुधार किए गए, लेकिन कई योजनाओं और नीतियों के कारण आदिवासी समुदायों की वन भूमि और वन संसाधनों तक पहुंच में कई समस्याएँ बनी रही। इन संघर्षों के कुछ प्रमुख उदाहरण निम्नलिखित हैं:

4.1 कंधमाल आंदोलन (2000 के दशक)

कंधमाल आंदोलन (2000 के दशक) उड़ीसा (अब ओडिशा) के कंधमाल जिले में आदिवासी समुदायों द्वारा 2000 के दशक में किया गया एक महत्वपूर्ण संघर्ष था, जो उनके वन अधिकारों की रक्षा और वन अधिकार अधिनियम (2006) के तहत अपने पारंपरिक अधिकारों को बहाल करने के लिए था। इस आंदोलन की मुख्य वजह थी कि कंधमाल में आदिवासी समुदायों को उनके वनों और भूमि पर अधिकार देने वाले सरकारी नीतियाँ और क़ानूनी प्रावधानों का पूरी तरह से पालन नहीं किया जा रहा था।

वन अधिकार अधिनियम, 2006 ने आदिवासियों और अन्य परंपरागत वन निवासियों को उनके पारंपरिक वन अधिकारों का अधिकार प्रदान किया था, जिनमें उनकी भूमि और वन संसाधनों पर अधिकार शामिल थे। हालांकि इस कानून की शुरुआत के बाद भी, सरकारी अधिकारियों और कंपनियों के दबाव के कारण इस अधिनियम का सही तरीके से पालन नहीं हो पा रहा था। आदिवासी समुदायों को उनकी जमीनों और वन संसाधनों पर कब्जा करने से रोका जा रहा था।

कंधमाल के आदिवासियों ने वन अधिकार अधिनियम के तहत अपने अधिकारों की सही तरह से बहाली की मांग की। इस आंदोलन के दौरान, कई संघर्षों, प्रदर्शन और जन आंदोलनों का हिस्सा

बने, और स्थानीय समुदायों ने आवाज उठाई कि उन्हें अपने संसाधनों और जीवनशैली के संपूर्ण अधिकार मिले। कंधमाल आंदोलन ने जनजातीय अधिकारों, आदिवासी अधिकारों और परंपरागत भूमि उपयोग के महत्व को उजागर किया और आदिवासी समुदायों की मांगों को मुख्यधारा में लाने में मदद की। यह आंदोलन एक महत्वपूर्ण उदाहरण बन गया कि कैसे आदिवासी अपनी भूमि और वन संसाधनों के अधिकारों की रक्षा के लिए संगठित और दृढ़तापूर्वक संघर्ष करते हैं।

परिणाम और प्रभाव: कंधमाल आंदोलन (2000 के दशक) का परिणाम और प्रभाव भारतीय आदिवासी और भूमि अधिकारों के संघर्षों में एक महत्वपूर्ण मोड़ था। यह आंदोलन कंधमाल जिले (उड़ीसा) के आदिवासी समुदायों द्वारा उनके पारंपरिक वन अधिकारों की रक्षा के लिए किया गया था। आंदोलन का मुख्य कारण था, वन अधिकार अधिनियम 2006 के तहत आदिवासियों को उनके भूमि अधिकारों और संसाधनों का पूरी तरह से अधिकार मिलने की प्रक्रिया में होने वाली देरी और प्रशासनिक अड़चनें। इसके परिणामस्वरूप आंदोलनकारी समुदायों ने विरोध करना शुरू किया, जिसमें उनके पारंपरिक जल, जंगल और भूमि के अधिकारों को सुनिश्चित करने की मांग की गई।

इस आंदोलन ने भारतीय सरकार और समाज के सामने यह स्पष्ट किया कि कानूनी उपायों और संसदीय कार्यवाही के बावजूद आदिवासी समुदायों के अधिकारों की प्राप्ति में कई संवेदनशील चुनौतियाँ हैं। कंधमाल आंदोलन ने यह सिद्ध किया कि किसी भी भूमि अधिकार कानून के प्रभावी कार्यान्वयन के लिए, आवश्यक नहीं कि केवल विधिक स्वीकृतियां महत्वपूर्ण हों, बल्कि स्थानीय प्रशासन और सामाजिक जागरूकता भी उतनी ही महत्वपूर्ण है।

इसके प्रभाव में, वन अधिकार अधिनियम (2006) के व्यापक प्रचार-प्रसार और इस अधिनियम के प्रभावी लागू होने के लिए सरकार को दबाव में आना पड़ा। इससे आदिवासी समुदायों को उनके वन और भूमि अधिकारों की सुरक्षा मिली और नए सामाजिक न्याय के मार्ग पर चलने के प्रयास मजबूत हुए। कंधमाल आंदोलन ने आदिवासी आत्मनिर्भरता और स्वावलंबन को बढ़ावा दिया, और अन्य राज्यों में भी इसी तरह के आंदोलनों के लिए एक प्रेरणा स्रोत बन गया।

4.2 नर्मदा बचाओ आंदोलन (1980 के दशक में)

नर्मदा बचाओ आंदोलन (1980 के दशक में) एक ऐतिहासिक और व्यापक जनआंदोलन था, जो नर्मदा नदी पर प्रस्तावित सिंचाई और जल विद्‌युत परियोजनाओं, विशेषकर सदार सरोवर परियोजना और केवड़िया डेम के खिलाफ हुआ। यह आंदोलन प्रमुख रूप से सुप्रसिद्ध समाजसेवी मेडा पाटकर और नर्मदा घाटी के आदिवासी, किसान और मछुआरे समुदायों के नेतृत्व में हुआ, जिनका जीवन इस नदी पर निर्भर था। आंदोलन का मुख्य उद्देश्य नर्मदा नदी के जल संसाधनों पर विशेष परियोजनाओं के कारण हो रहे नुकसान और प्राकृतिक पर्यावरणीय प्रभावों के खिलाफ विरोध करना था। इन परियोजनाओं के तहत नर्मदा नदी पर कई बांध बनाए जाने थे, जिसके कारण भारी संख्या में आदिवासी और ग्रामीण लोग विस्थापित हो रहे थे। यह आंदोलन औपनिवेशिक समय से उत्पन्न उस झील या नदी के संसाधनों पर अधिकार की समस्या को उठाता है, जिसपर स्थानीय जनजातीय समुदायों का पारंपरिक अधिकार होता था।

इस आंदोलन ने आदिवासी समुदायों के वन अधिकारों के खिलाफ होने वाले शोषण और स्थानीय निवासियों की बेदखली का सवाल उठाया। बड़ी-बड़ी जल परियोजनाओं के लिए आदिवासी बस्तियों और जंगलों को नष्ट करना, इनके पारंपरिक वन उपयोग अधिकारों का उल्लंघन करना और स्थानीय ग्रामीणों को बर्बादी की ओर धकेलना इन विरोधों के मुख्य मुद्दे थे। इस आंदोलन ने कई वक़्तों में कानूनी लड़ाइयाँ और न्यायिक प्रक्रिया की चुनौतियों का सामना किया। आंदोलनकर्ताओं ने नर्मदा परियोजनाओं के प्रभावों को उजागर करने के लिए व्यापक जन जागरूकता अभियान चलाए और नदी का संरक्षण करने के लिए सरकार से जिम्मेदारी और जवाबदेही की मांग की।

नर्मदा बचाओ आंदोलन का ऐतिहासिक महत्व इस कारण से है कि इसने आदिवासी अधिकारों, भूमि अधिकारों और जल संसाधन प्रबंधन के समग्र विचार में एक नया आयाम जोड़ा। आंदोलन के प्रभाव में, स्थानीय समुदायों को उनके वन अधिकारों और भूमि अधिकारों की पहचान मिली और इसके परिणामस्वरूप सरकारों को कानूनी संरक्षण की दिशा में कदम उठाने के लिए प्रेरित किया। यह आंदोलन विशेष रूप से अधिकारों की वापसी, संपत्ति के अधिकारों, और प्राकृतिक संसाधनों की संवेदनशील और विवेकपूर्ण प्रबंधन के संदर्भ में जनजातीय समुदायों के लिए एक मिशाल बन गया।

परिणाम और प्रभाव: नर्मदा बचाओ आंदोलन (1980 के दशक) के परिणाम और प्रभाव व्यापक और गहरे रहे। इस आंदोलन ने विकास परियोजनाओं और विस्थापन से जुड़ी समस्याओं को राष्ट्रीय और वैश्विक स्तर पर प्रमुख मुद्दा बना दिया। आंदोलन के दौरान उठाए गए मुद्दों ने यह दिखाया कि जब बड़े पैमाने पर जल संसाधन परियोजनाएँ (जैसे एसardar Sarovar Project) लागू की जाती हैं, तो स्थानीय समुदायों, खासकर आदिवासियों और किसानों के जीवन, अस्तित्व और संसाधन अधिकारों पर गहरा असर पड़ता है। आंदोलन ने एक स्पष्ट संदेश दिया कि विकास को केवल आर्थिक दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय और मानवाधिकार की दृष्टि से भी देखा जाना चाहिए। इसके प्रभाव से कानूनी और नीतिगत बदलाव की दिशा में कदम बढ़ाए गए। विशेष रूप से, आंदोलन ने विस्थापन और पुनर्वास नीतियों की समीक्षा करने की आवश्यकता को उजागर किया। इसने सरकार को आदिवासी अधिकारों, जलवायु न्याय, और सतत विकास के मुद्दों को समाहित करने के लिए प्रेरित किया। इसके प्रभाव में ही सार्वजनिक उपक्रमों और संसदीय समितियों ने मानवाधिकार और समाज के सबसे कमजोर वर्गों के हितों की रक्षा के लिए कानूनी बदलाव की दिशा में काम किया। आंदोलन ने पर्यावरणीय चेतना को भी जागृत किया और यह सिद्ध किया कि समान और न्यायपूर्ण विकास के बिना कोई भी समाज दीर्घकालिक सफलता हासिल नहीं कर सकता।

4.3 भूमि अधिकार आंदोलन (1970s-1990s)

भूमि अधिकार आंदोलन (1970s-1990s) भारत में भूमि और प्राकृतिक संसाधनों पर जनजातीय समुदायों के अधिकारों की रक्षा के लिए एक महत्वपूर्ण और दीर्घकालिक संघर्ष था। 1970 के दशक से लेकर 1990 के दशक तक, भारत में भूमि अधिकारों को लेकर विभिन्न संघर्ष हुए, जिनमें विशेष रूप से आदिवासी और भूमिहीन लोगों ने अपने भूमि अधिकारों, वन अधिकारों, और पारंपरिक संसाधनों पर कब्जे की लड़ाई लड़ी। इस आंदोलन का उद्देश्य था कि जनजातीय समुदायों को उनके पारंपरिक भूमि और वन संसाधनों पर उनके अधिकार वापस मिलें, जिन्हें सरकारी नीतियों और विकास परियोजनाओं के कारण खो दिया गया था।

उत्पत्ति और पृष्ठभूमि: भारत में भूमि अधिकारों से जुड़ी समस्याएं ऐतिहासिक और औपनिवेशिक काल की नीतियों का परिणाम थीं। ब्रिटिश शासन के समय, जमींदारी व्यवस्था, कृषि भूमि सुधार और वन संसाधनों पर नियंत्रण के कारण आदिवासी समुदायों के लिए अपनी भूमि और प्राकृतिक संसाधनों का हक पाना कठिन हो गया था। औपनिवेशिक नीतियों के दौरान

भूमि पर अधिकारों का बदलाव हुआ, जिसके कारण आदिवासी और अन्य स्थानीय समुदाय अपनी पारंपरिक भूमि से वंचित हो गए। जब स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी आदिवासी अधिकारों की अनदेखी की गई, तब भूमि अधिकारों के संघर्ष ने नई दिशा प्राप्त की।

4.4 प्रमुख संघर्ष

कृषि भूमि और संसाधन पर कब्जे: भारतीय आदिवासी और ग्रामीण समुदायों के लिए लंबे समय से संघर्ष का कारण रहे हैं। ब्रिटिश शासन के दौरान जमींदारी व्यवस्था, वन भूमि पर नियंत्रण, और भूमि सुधार नीतियों ने आदिवासियों के पारंपरिक भूमि अधिकारों को समाप्त कर दिया था। इसके बाद स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी, कई सरकारी नीतियों और औद्योगिकीकरण के कारण आदिवासी समुदायों को उनकी भूमि से वंचित किया गया। विभिन्न योजनाओं के तहत, सरकारों और कंपनियों ने कृषि भूमि पर कब्जा करने की कोशिश की, जिससे आदिवासी और ग्रामीण समुदायों का जीवन प्रभावित हुआ। खासकर जब बड़ी सिंचाई परियोजनाएं, बांध, खदानें, और औद्योगिक विकास शुरू हुआ, तो इन परियोजनाओं के लिए आदिवासी क्षेत्रों से उनकी भूमि का अधिग्रहण किया गया। इन परियोजनाओं का सीधा असर उनके जीवन स्तर और रोज़मर्रा की ज़रूरतों पर पड़ा, क्योंकि उनकी भूमि और प्राकृतिक संसाधनों पर अधिकार समाप्त हो गए थे। इसके विरोध में कई आंदोलनों का जन्म हुआ, जिसमें आदिवासियों ने अपनी पारंपरिक भूमि और संसाधनों पर कब्जे को वापस पाने के लिए संघर्ष किया, जिससे उनकी आर्थिक स्थिति और पहचान जुड़ी हुई थी।

महात्मा गांधी के ग्रामीण आंदोलन: भारतीय समाज में आदिवासी और भूमिहीन किसानों के अधिकारों के लिए एक नए दृष्टिकोण का परिचय दिया। गांधीजी ने भारतीय किसानों और आदिवासियों को अपने भूमि अधिकारों के प्रति जागरूक किया और उन्हें न्यायपूर्ण समाज की स्थापना के लिए प्रेरित किया। खासकर अहमदाबाद, वडोदरा और मध्य प्रदेश जैसे क्षेत्रों में, जहां भूमि सुधार की आवश्यकता थी, गांधीजी के आध्यात्मिक आंदोलन और सत्याग्रह ने आदिवासी और भूमिहीन समुदायों को उनकी भूमि और संसाधनों के अधिकार के लिए संगठित किया। यह आंदोलन केवल भूमि कब्जे या जमीन के मालिकाना हक तक ही सीमित नहीं था, बल्कि इसका उद्देश्य शोषण, अवहेलना और सामाजिक असमानता के खिलाफ जन जागरूकता फैलाना था। गांधीजी के सिद्धांतों ने इन्हें अहिंसा और सत्य के रास्ते पर संघर्ष करने की प्रेरणा दी, जिसके

परिणामस्वरूप स्थानीय और राष्ट्रीय स्तर पर भूमि सुधार की मांग उठी। आदिवासी किसानों ने अपने भूमि अधिकारों की रक्षा करने के लिए सत्याग्रह और नम्र विरोध का सहारा लिया, और इन आंदोलनों ने सरकारों और शासकों को कानूनी और संरचनात्मक सुधारों की आवश्यकता के प्रति जागरूक किया। इन संघर्षों से यह साबित हुआ कि गांधीजी का आंदोलन केवल स्वतंत्रता संग्राम तक सीमित नहीं था, बल्कि समाज के हर वर्ग के अधिकारों को सुरक्षित करने का भी एक व्यापक आंदोलन था। इन आंदोलनकारियों की संगठित लड़ाई ने भूमि सुधार और स्थानीय समुदायों के लिए भूमि अधिकारों की दिशा में कई महत्वपूर्ण कदम उठाने में मदद की।

भूपेंद्र सिंह जुनेजा आयोग (1984): भूपेंद्र सिंह जुनेजा आयोग (1984) का गठन 1984 में भारतीय सरकार ने आदिवासी क्षेत्रों में भूमि अधिकारों की स्थिति का आकलन करने के लिए किया था। आयोग का मुख्य उद्देश्य था यह समझना कि आदिवासी समुदायों के पारंपरिक भूमि अधिकारों को कैसे संरक्षित किया जाए, विशेष रूप से जब भूमि सुधार और पैमाइश की नीतियाँ उनके पारंपरिक अधिकारों के खिलाफ जाती थीं। आयोग ने यह पाया कि भूमि सुधार कानून और पैमाइश प्रणाली को लागू करते समय आदिवासी क्षेत्रों में विशेष संवेदनशीलता की आवश्यकता थी, क्योंकि इन नीतियों ने आदिवासियों के पारंपरिक स्वामित्व और कब्जे को नजरअंदाज किया था। विशेष रूप से, बड़ी परियोजनाओं और सरकारी हस्तक्षेप ने आदिवासी समुदायों की भूमि से बेदखली को बढ़ावा दिया, जिससे उनकी आर्थिक स्थिति और सामाजिक अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। जुनेजा आयोग ने जोर दिया कि आदिवासियों के पारंपरिक कब्जे को कानून के तहत सुरक्षा मिलनी चाहिए और उनके भूमि अधिकारों को मान्यता देनी चाहिए। आयोग की सिफारिशों ने भारतीय सरकार को भूमि अधिकारों पर आधिकारिक नीतियों में सुधार करने के लिए प्रेरित किया, जो आदिवासी क्षेत्रों में भूमि स्वामित्व को सही ढंग से परिभाषित करने की दिशा में मील का पत्थर साबित हुआ। इन सिफारिशों ने सरकारी नीति के निर्माण में एक बदलाव की शुरुआत की, जिससे आदिवासियों को उनके पारंपरिक भूमि अधिकारों के प्रति संवेदनशीलता और सुरक्षा मिलने लगी। इस आयोग ने यह दिखाया कि भूमि अधिकारों की रक्षा के बिना, आदिवासियों के सामाजिक और आर्थिक विकास की संभावनाएँ गंभीर रूप से सीमित हो सकती हैं।

वन अधिकार कानून (1980s): वन अधिकार कानून (1980s) के तहत, 1980 के दशक में भारतीय सरकार ने वन भूमि पर आदिवासी समुदायों के अधिकारों को नकारते हुए कई विकास परियोजनाएँ शुरू की। इन योजनाओं के तहत वन क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर जंगलों की कटाई और औद्योगिकीकरण किया गया, जिससे आदिवासी समुदायों की पारंपरिक आजीविका, जो जंगलों और वन संसाधनों पर निर्भर थी, खतरे में पड़ गई। इन परियोजनाओं के खिलाफ विरोध स्वरूप आदिवासी समुदायों और जनजातीय संगठनों ने आंदोलनों की शुरुआत की। एक प्रमुख आंदोलन बंसीलाल धर समिति द्वारा प्रस्तुत 1984 का प्रस्ताव था, जिसमें आदिवासी समुदायों की भूमि और जंगलों पर स्वामित्व का अधिकार पुनः बहाल करने की मांग की गई। समिति ने तर्क दिया कि आदिवासी समुदायों का अस्तित्व उनकी जमीन और जंगलों से जुड़ा हुआ था, और इसलिए इन अधिकारों को बहाल करना अत्यंत आवश्यक था। इस विरोध ने भारतीय सरकार को यह समझने पर मजबूर किया कि आदिवासी समुदायों के वन अधिकारों के बिना जंगलों और प्राकृतिक संसाधनों का प्रबंधन टिकाऊ नहीं हो सकता। इस संघर्ष ने बाद में वन अधिकार अधिनियम (2006) का मार्ग प्रशस्त किया, जो आदिवासियों और अन्य वन निवासियों के पारंपरिक अधिकारों को मान्यता देने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम साबित हुआ।

नर्मदा बचाओ आंदोलन (1980 के दशक में): नर्मदा बचाओ आंदोलन (1980 के दशक) एक प्रमुख भूमि अधिकारों और आदिवासी अधिकारों के संघर्ष का उदाहरण था, जिसे मैधा पाटकर और अन्य सामाजिक कार्यकर्ताओं ने नेतृत्व किया। यह आंदोलन नर्मदा नदी परियोजना (एसardar Sarovar Project) के खिलाफ था, जिसे भारतीय सरकार ने बड़े पैमाने पर जल संसाधन प्रबंधन, सिंचाई, और विद्युत उत्पादन के उद्देश्य से शुरू किया था। हालांकि यह परियोजना विकास के नाम पर भूमि अधिग्रहण और विस्थापन को बढ़ावा दे रही थी, जिसका प्रत्यक्ष असर नर्मदा घाटी के आदिवासी, किसान और अन्य निचले स्तर के समुदायों पर पड़ा। इस आंदोलन में आंदोलनकारियों ने भूमि अधिकारों, आदिवासी अधिकारों और जल संकट के मुद्दों को प्रमुखता से उठाया, यह सिद्ध करते हुए कि ये संघर्ष केवल भूमि के सवाल तक सीमित नहीं हैं, बल्कि पूरे समाज के लिए गहरी समृद्धि और सशक्तिकरण के मुद्दे हैं। आंदोलन ने यह साबित किया कि प्राकृतिक संसाधनों के कुप्रबंधन और विकास की संरचना ने पूरी तरह से आदिवासी और अन्य कमजोर समुदायों की बेदखली की ओर धकेल दिया। यह आंदोलन न केवल राष्ट्रीय स्तर पर, बल्कि वैश्विक स्तर पर भी एक बहस का हिस्सा बन गया कि जब बड़े

प्रॉजेक्ट्स लागू किए जाते हैं, तो जनजातीय और अन्य स्थानीय समुदायों के सांस्कृतिक, सामाजिक, और आर्थिक अधिकारों की रक्षा कैसे की जा सकती है।

परिणाम और प्रभाव: 1990 के दशक में, भूमि अधिकारों के आंदोलन ने स्वतंत्रता संग्राम और आधुनिक राजनीति के बीच एक संतुलन स्थापित किया। 1990 में भारत सरकार ने आदिवासी जनजातीय समुदायों के लिए वन अधिकार विधि का मसौदा तैयार किया, जिससे यह निर्धारित किया गया कि प्राकृतिक संसाधनों पर आदिवासियों के अधिकार मान्य होंगे, बशर्ते वे अपने पारंपरिक कब्जे और उपयोग को प्रमाणित कर सकें। भूमि अधिकार आंदोलन ने यह सिद्ध कर दिया कि, जब तक आदिवासियों के आर्थिक, सामाजिक और पारिस्थितिकी संबंधों का उचित संरक्षण और सम्मान नहीं होता, तब तक राष्ट्रीय विकास का कोई भी मॉडल तटस्थ नहीं हो सकता। इसके माध्यम से आदिवासियों और अन्य भूमिहीनों के लिए उनके कृषि अधिकारों और समाज में पहचान की दिशा में सरकार को कदम उठाने के लिए मजबूर किया।

यह आंदोलन संविधान की व्याख्याओं, कानूनी ढांचे और सरकारी नीतियों पर गहरी छाप छोड़ते हुए, भारत में आदिवासी समुदायों के संरक्षण और संवेदनशील तरीके से भूमि का उपयोग को लेकर दीर्घकालिक प्रयासों की शुरुआत थी। इन संघर्षों ने यह दर्शाया कि आदिवासी समुदायों की पहचान और अस्तित्व वन और भूमि अधिकारों से जुड़ा हुआ है, और औपनिवेशिक बाद भी इन अधिकारों की रक्षा के लिए जनजातीय आंदोलन जारी रहे।

अध्याय 5

झारखंड के संदर्भ में ऐतिहासिक साक्ष्य का आकलन

5.1 औपनिवेशिक शासन के खिलाफ वन संसाधनों की पहुंच के लिए जनजातीय संघर्षों के ऐतिहासिक साक्ष्य झारखंड के संदर्भ में

झारखंड, जो आदिवासी बहुल राज्य है, ऐतिहासिक रूप से जनजातीय समुदायों का घर रहा है, जिनका जीवन पारंपरिक रूप से जंगलों और प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर था। औपनिवेशिक शासन के दौरान ब्रिटिश सरकार ने जंगलों पर नियंत्रण स्थापित किया और स्थानीय आदिवासियों की पारंपरिक वन संसाधनों तक पहुंच को सीमित कर दिया। इससे उत्पन्न हुए संघर्षों का इतिहास समृद्ध और गहरा है, जो यह दर्शाता है कि आदिवासी समुदायों ने अपने प्राकृतिक अधिकारों और संसाधनों की रक्षा के लिए संगठित संघर्ष किया।

संताल हुल (1855-1856): संताल हुल (1855-1856) झारखंड में संताल जनजाति द्वारा ब्रिटिश शासन और स्थानीय जमींदारों के खिलाफ एक महत्वपूर्ण विद्रोह था। इस संघर्ष का मूल कारण आदिवासियों की भूमि और वन संसाधनों पर बढ़ता हुआ ब्रिटिश कब्जा था। ब्रिटिश साम्राज्य और जमींदारों ने संताल समुदाय के पारंपरिक अधिकारों का उल्लंघन किया, विशेष रूप से उनकी वन भूमि और जंगलों से लकड़ी, फल, औषधियाँ और अन्य संसाधनों तक पहुंच को रोकने की कोशिश की। संताल हुल में आदिवासी समुदायों ने अपने पारंपरिक वन अधिकारों की रक्षा के लिए संगठित होकर विद्रोह किया, जो उस समय उनके जीवन का अभिन्न हिस्सा थे। इस संघर्ष ने सिर्फ भूमि अधिकारों का ही नहीं, बल्कि आदिवासी समुदायों के पर्यावरणीय और प्राकृतिक संसाधनों पर अधिकारों का भी मजबूत पक्ष प्रस्तुत किया। यह विद्रोह औपनिवेशिक शासन द्वारा आदिवासी समुदायों पर किए गए शोषण और अन्याय के खिलाफ था और उनकी स्वाधीनता की तलाश का प्रतीक बना।

कोल विद्रोह (1831-1832): कोल विद्रोह (1831-1832) झारखंड में कोल जनजाति द्वारा ब्रिटिश शासन के खिलाफ हुआ एक प्रमुख संघर्ष था। ब्रिटिश प्रशासन ने इलाके के जंगलों पर कब्जा कर लिया और उन्हें अपनी साम्राज्य की संपत्ति बना लिया। कोल समुदाय, जो पारंपरिक रूप से जंगलों से लकड़ी, रेजिन, औषधियाँ और अन्य वन उत्पाद प्राप्त करते थे, अपनी आजीविका के लिए इन संसाधनों पर निर्भर था। ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा जंगलों पर नियंत्रण स्थापित करने और उसके साथ ही कोल समुदाय से उनके संसाधनों का अधिकार छीनने के बाद उनकी आर्थिक स्थिति संकट में पड़ गई। इस अन्याय के खिलाफ, कोल जनजाति ने ब्रिटिश साम्राज्य और स्थानीय जमींदारों के खिलाफ सशस्त्र विद्रोह किया। वे अपनी भूमि और वन संसाधनों के पारंपरिक अधिकारों को पुनः स्थापित करने के लिए एकजुट हुए। विद्रोह ने केवल भूमि अधिकारों को ही चुनौती नहीं दी, बल्कि इसने आदिवासियों के वन संसाधनों पर उनके पारंपरिक अधिकारों को भी अहमियत दी। ब्रिटिश शासकों के खिलाफ यह संघर्ष कोल समुदाय की ओर से अपने जीवनदायिनी संसाधनों को बचाने के लिए एक मजबूत प्रतिकार था। यह विद्रोह यह दर्शाता है कि आदिवासी समुदायों के लिए उनके वन संसाधन केवल आर्थिक दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि उनकी संस्कृति और पहचान से भी जुड़े हुए थे।

चौल विद्रोह (1913): चौल विद्रोह (1913), जिसे "चॉल हूल" भी कहा जाता है, झारखंड के हजारीबाग जिले में हुआ था, और यह ब्रिटिश शासन तथा स्थानीय जमींदारों द्वारा आदिवासी समुदायों के पारंपरिक वन अधिकारों के उल्लंघन के खिलाफ एक महत्वपूर्ण संघर्ष था। इस विद्रोह का प्रमुख कारण यह था कि ब्रिटिश और जमींदारों ने झारखंड के आदिवासी क्षेत्रों के जंगलों और उनकी वन संपदाओं पर अधिकार करना शुरू कर दिया था, जिससे स्थानीय आदिवासी समुदायों की जीविका पर संकट आ गया था। आदिवासी समुदाय, जो शताब्दियों से जंगलों से लकड़ी, रेजिन, फसलें और अन्य वन उत्पाद प्राप्त कर अपनी रोज़ी-रोटी चलाते थे, अब इन संसाधनों से वंचित होने लगे थे। 1913 में स्थानीय जमींदारों और ब्रिटिश प्रशासन द्वारा वन उत्पादों की वाणिज्यिक बिक्री के लिए कर लगाए गए थे, जो आदिवासियों की पारंपरिक आर्थिक गतिविधियों पर भारी पड़ रहे थे। आदिवासी समुदायों ने अपनी जीवनशैली, संसाधनों और पारंपरिक अधिकारों की रक्षा के लिए संगठित होकर इस विद्रोह को अंजाम दिया। उनका उद्देश्य न केवल अपने पारंपरिक वनाधिकारों की पुनर्प्राप्ति था, बल्कि इसने आदिवासी समुदायों द्वारा सामूहिक रूप से अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने के विचार को भी बल दिया। चौल विद्रोह ने यह साबित किया कि आदिवासी समुदायों का संघर्ष सिर्फ भूमि अधिकारों का नहीं,

बल्कि उनके वन संसाधनों पर भी उनके स्वाभाविक हक का था। यह विद्रोह उनके ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अधिकारों की पुनर्स्थापना की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था और झारखंड में उनके अधिकारों की लड़ाई का प्रतीक बन गया।

पलामू विद्रोह (1857): पलामू विद्रोह (1857), भारतीय उपमहाद्वीप में ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ जनजातीय समुदायों द्वारा एक प्रमुख संगठित प्रतिरोध था। यह संघर्ष विशेष रूप से पलामू क्षेत्र, जो वर्तमान में झारखंड और बिहार के बीच स्थित है, में हुआ और इसका मुख्य कारण ब्रिटिश शासन द्वारा भूमि और वन संसाधनों पर कड़ा नियंत्रण था। ब्रिटिश शासकों ने आदिवासी समुदायों के पारंपरिक अधिकारों को नजरअंदाज करते हुए उनके जंगलों पर कब्जा करना शुरू कर दिया था। ये समुदाय जिन जंगलों पर निर्भर थे, उन्हें भूमि और संसाधनों की उपलब्धता सीमित कर दी गई थी। पलामू क्षेत्र के जनजातीय समुदाय, जैसे कि कोल, संताल और मुंडा, ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा लगाए गए नए नियमों और शुल्कों का विरोध कर रहे थे। ब्रिटिश प्रशासन ने इन समुदायों के पारंपरिक वन उत्पादों पर कर लगाए थे और उन्हें इन संसाधनों से वंचित कर दिया था, जिससे उनकी आजीविका संकट में पड़ गई।

इसके अलावा, भूमि अधिग्रहण और जंगलों पर नए प्रावधानों के चलते आदिवासियों की स्वतंत्रता और जीवनशैली पर दबाव बढ़ गया था। यह विद्रोह आदिवासी समुदायों की ओर से अपने पारंपरिक अधिकारों की रक्षा के लिए उठाया गया एक संघर्ष था, जो उनकी भूमि और वन संसाधनों के स्वामित्व का संरक्षण करना चाहता था। पलामू विद्रोह ने ब्रिटिश शासन के खिलाफ सिर्फ भूमि अधिकारों की नहीं, बल्कि आदिवासियों के प्राकृतिक संसाधनों पर उनके हक का भी प्रमुख सवाल उठाया। यह संघर्ष भारतीय उपमहाद्वीप में जनजातीय समुदायों के पर्यावरणीय और सामाजिक अधिकारों की रक्षा के प्रयास का प्रतीक बन गया, और यह ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ आदिवासी प्रतिरोध की बड़ी मिसाल पेश करता है। इन संघर्षों का उद्देश्य सिर्फ राजनीतिक नियंत्रण के खिलाफ नहीं, बल्कि जीवनयापन के लिए आवश्यक प्राकृतिक संसाधनों की स्वतंत्रता की रक्षा भी था। झारखंड में औपनिवेशिक शासन के खिलाफ जनजातीय संघर्षों के ऐतिहासिक साक्ष्य आज भी उन सामुदायिक संघर्षों का महत्वपूर्ण हिस्सा माने जाते हैं जो स्थायी और न्यायपूर्ण वन और भूमि अधिकारों के लिए आदिवासी समुदायों के आंदोलन को प्रेरित करते हैं।

5.2 औपनिवेशिकोत्तर शासन के खिलाफ वन संसाधनों की पहुंच के लिए जनजातीय संघर्षों के ऐतिहासिक साक्ष्य झारखंड के संदर्भ में

औपनिवेशिकोत्तर काल (1947 के बाद) में, झारखंड में जनजातीय समुदायों ने वन संसाधनों पर अपने अधिकारों की रक्षा के लिए कई संघर्ष किए। इन संघर्षों का मुख्य कारण यह था कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी, सरकार ने उन पुराने औपनिवेशिक कानूनों और नीतियों को जारी रखा, जो आदिवासी समुदायों के पारंपरिक वन अधिकारों का उल्लंघन करते थे। इस समय, वनों की वाणिज्यिक उपयोगिता और राज्य की नीति में संसाधनों के अत्यधिक दोहन ने आदिवासियों के जीवन पर विपरीत प्रभाव डाला।

नर्मदा बचाओ आंदोलन (1980-90 दशक): नर्मदा बचाओ आंदोलन (1980-90 दशक), एक ऐतिहासिक और व्यापक जन आंदोलन था, जिसका उद्देश्य नर्मदा नदी पर बन रही बड़ी बैराज परियोजना से प्रभावित आदिवासी और ग्रामीण समुदायों को उनके भूमि और जल संसाधनों के अधिकारों का संरक्षण करना था। यह आंदोलन नर्मदा नदी पर निर्मित सरदार वल्लभभाई पटेल (SSP) और नर्मदा सागर परियोजना से जुड़े विकास कार्यों के खिलाफ खड़ा हुआ था। इन परियोजनाओं के तहत सैकड़ों गांवों और आदिवासी समुदायों को विस्थापित किया जा रहा था। झारखंड के आदिवासी समुदायों ने भी इस संघर्ष में सक्रिय भाग लिया, क्योंकि नर्मदा नदी परियोजना का प्रभाव सीधे उनके जीवन-यापन, जल, वन और भूमि पर पड़ने वाला था। विशेष रूप से, यह परियोजना वन अधिकारों का उल्लंघन करती थी, क्योंकि आदिवासी समुदायों ने अपने परंपरागत जंगलों और वन्य संसाधनों का लंबे समय से उपयोग किया था, और इसके साथ ही उनके जल स्रोतों का संरक्षण उनके जीवन के अभिन्न अंग था। आंदोलन के दौरान, आदिवासी समुदायों ने अपनी ज़मीन और जल संसाधनों पर नियंत्रण बनाए रखने के लिए सरकार की नीतियों के खिलाफ प्रतिरोध किया। उनका संघर्ष यह था कि बिना पर्याप्त पुनर्वास योजनाओं और न्यायपूर्ण प्रावधानों के विस्थापन नहीं होना चाहिए। उन्हें आशंका थी कि विकास के नाम पर उनके पारंपरिक भूमि अधिकारों की अनदेखी की जाएगी, और उनके जीवन की सांस्कृतिक पहचान और पारिस्थितिकी प्रणाली पर भी संकट आ जाएगा। नर्मदा बचाओ आंदोलन में भाग लेने वाले झारखंड के आदिवासियों ने अपने जंगलों, भूमि और जल पर अधिकार का दावा करते हुए इसे न केवल एक क्षेत्रीय संघर्ष बल्कि एक राष्ट्रीय और पर्यावरणीय आंदोलन बना दिया। इस

आंदोलन ने यह सिद्ध किया कि प्राकृतिक संसाधनों के वितरण और उपयोग में न्याय सुनिश्चित करना केवल आदिवासी मुद्दा नहीं, बल्कि समाज के सभी वर्गों के लिए एक महत्वपूर्ण चुनौती है।

वन अधिकार अधिनियम (2006): वन अधिकार अधिनियम (2006), जिसे 'वाणिज्यिक उपयोग के लिए वन भूमि पर आदिवासियों और अन्य पारंपरिक वन निवासियों के अधिकारों की स्वीकृति' के रूप में भी जाना जाता है, भारत में वन अधिकारों की रक्षा करने के उद्देश्य से पारित किया गया था। यह कानून उन आदिवासी समुदायों के पारंपरिक अधिकारों को मान्यता देता है जो वन संसाधनों पर लंबे समय से निर्भर रहे हैं, जैसे कि लकड़ी, औषधियाँ, फल, शहद और अन्य वन उत्पादों का संग्रहण और उपयोग। यह अधिनियम आदिवासी और अन्य पारंपरिक वन निवासियों को भूमि के मालिकाना हक प्रदान करता है, और इन समुदायों को यह अधिकार प्रदान करता है कि वे अपनी पारंपरिक भूमि का स्वामित्व पुनः प्राप्त कर सकें।

इस कानून के तहत सरकार को उन क्षेत्रों की पहचान करनी थी जो आदिवासी और अन्य परंपरागत वन समुदायों के अधिकार क्षेत्र में आते हैं और उन पर काबिज पड़ी उपयुक्त भूमि पर इन समुदायों के अधिकार को प्रमाणित करना था। इस अधिनियम ने आदिवासी समुदायों को कानूनी रूप से उनका वन अधिकार दिलाने की एक वैधानिक संभावना दी, जो वर्षों से अन्याय और विस्थापन का शिकार रहे थे। हालाँकि, इस कानून की क्रियान्वयन की प्रक्रिया काफी धीमी और विवादास्पद रही है। कई जगहों पर आदिवासी समुदायों को अपनी पारंपरिक वन भूमि के स्वामित्व को साबित करने के लिए लंबी कानूनी लड़ाइयां लडनी पड़ीं। भूमि सर्वेक्षणों, दस्तावेज़ीकरण की कमी और अधिकारियों की लापरवाही के कारण इस कानून के कई प्रावधानों की उचित तरीके से क्रियान्वयन में कठिनाइयाँ आईं। इसके साथ ही, स्थानीय सरकारों और अधिकारियों द्वारा इस कानून की ओर अवज्ञा या अनदेखी की वजह से आदिवासी समुदायों को अपने अधिकारों को प्राप्त करने में कठिनाई आई।

फिर भी, इस अधिनियम की पारित होने के बाद, आदिवासी संगठनों ने इसे लागू करने के लिए जमीनी संघर्ष किया। कई आंदोलन इस कानून के समर्थन में शुरू हुए और इसमें महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने वाले संगठनों ने स्थानीय और राज्य सरकारों पर दबाव डाला। संगठनों ने जन जागरूकता अभियान चलाए और कानूनी सहायता उपलब्ध करवाई, जिससे कई आदिवासी परिवारों को अपने पारंपरिक वन अधिकार प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त हुआ। हालाँकि, कई आदिवासी अधिकार संगठनों ने आलोचना की है कि इन अधिकारों का क्रियान्वयन संपूर्ण रूप

से सफल नहीं रहा और कई स्थानों पर लोग अभी भी अपने प्राकृतिक संसाधनों पर नियंत्रण प्राप्त करने में असमर्थ हैं। फिर भी, वन अधिकार अधिनियम (2006) ने भारत में वन समुदायों की सामाजिक और कानूनी स्थिति को एक नई दिशा दी और इसे आदिवासी समुदायों के अधिकारों के संघर्ष की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि माना जा सकता है।

कंधमाल आंदोलन (2000 के दशक): कंधमाल आंदोलन (2000 के दशक), उड़ीसा के कंधमाल जिले में आदिवासी समुदायों द्वारा शुरू किया गया था, जो उनके पारंपरिक वन अधिकारों और भूमि अधिकारों की रक्षा के लिए था। यह आंदोलन मुख्य रूप से वन अधिकार अधिनियम (2006) के तहत उनके अधिकारों को लागू करने के लिए था, जो आदिवासी और अन्य परंपरागत वन निवासी समुदायों को उनके पारंपरिक भूमि और वन संसाधनों का स्वामित्व प्रदान करने का अधिकार देता है। इस संघर्ष का प्रमुख उद्देश्य उन समुदायों को उनके प्राकृतिक संसाधनों पर नियंत्रण दिलाना था, जिनका उन्होंने सदियों से इस्तेमाल किया था, और जिन्होंने पिछले कुछ दशकों में औपनिवेशिक और औद्योगिकीकरण की नीतियों के कारण अपने अधिकार खो दिए थे।

कंधमाल जिले के आदिवासी समुदायों को मुख्य रूप से जंगलों से लकड़ी, फल, औषधियाँ, शहद और अन्य वन उत्पाद मिलते थे, जिनसे वे अपनी जीवन रेखा चला रहे थे। लेकिन समय के साथ, राज्य सरकार और व्यापारिक हितों ने इन वनों पर कब्जा करना शुरू कर दिया, और उन्हें औद्योगिक विकास की दिशा में इस्तेमाल किया, जिससे आदिवासी समुदायों की संसाधनों तक पहुँच संकटग्रस्त हो गई। इसके अतिरिक्त, जंगलों की व्यावसायिक खनन, वृक्षारोपण और अन्य परियोजनाओं में अनियंत्रित दोहन के कारण पर्यावरणीय संकट बढ़ने लगा। आदिवासी समुदायों ने विरोध किया और इसके तहत स्थानीय जनजातीय संगठनों ने वन अधिकार अधिनियम को लागू करने की माँग की। उनका आरोप था कि राज्य सरकार ने आदिवासी समुदायों के अधिकारों की अनदेखी की थी, और उनके पारंपरिक वनाधिकारों को बहाल करने में कोई प्रभावी कदम नहीं उठाए थे। कंधमाल आंदोलन के प्रमुख विचार में सामुदायिक जागरूकता, वन अधिकार अधिनियम के बारे में विस्तार से शिक्षित करना और उन्हें अपने अधिकारों के लिए आवाज़ उठाने के लिए प्रेरित करना था।

आन्दोलन के साथ साथ, आदिवासी संगठनों ने राज्य सरकार पर दबाव डाला कि वे आदिवासी समुदायों को न्याय दिलाने के लिए प्रभावी कदम उठाएँ, और उनके पारंपरिक वनाधिकारों को

अधिकारिक रूप से मान्यता दें। इस आंदोलन ने न केवल कंधमाल, बल्कि पूरे राज्य में आदिवासी और वन समुदायों को उनके अधिकारों के लिए संघर्ष करने में महत्वपूर्ण प्रेरणा दी। हालाँकि आंदोलन को कई बार हिंसा का सामना भी करना पड़ा, फिर भी कंधमाल आंदोलन ने भारत में आदिवासी अधिकारों और संसाधनों पर नियंत्रण की वकालत करने वाले आंदोलनों में एक महत्वपूर्ण मील का पत्थर साबित हुआ, जिससे इस प्रकार के अधिकारों के संघर्षों को संजीवनी मिली।

इन संघर्षों में आदिवासी समुदायों ने औपनिवेशिक शासन के दौरान जो अन्याय सहे थे, उसकी पुनरावृत्ति का विरोध किया और अपने पर्यावरणीय अधिकारों के लिए लगातार आवाज़ उठाई।

5.3 व्यवस्थित समीक्षा और निष्कर्ष

लेखक का नाम (वर्ष)	**शोध का उद्देश्य**	**विषय**	**निष्कर्ष**
एझाकुनेल, ए. (2000)	भारत में आदिवासियों और जंगलों के रिश्ते व संयुक्त वन प्रबंधन के प्रभावों का विश्लेषण।	आदिवासी और जंगल, संयुक्त वन प्रबंधन।	ब्रिटिश और स्वतंत्र भारत सरकार ने आदिवासियों के जंगलों से संबंध खत्म कर दिए। अधिकार छीनने से जीवन यापन कठिन हुआ। संयुक्त वन प्रबंधन से जंगल संरक्षण संभव हुआ। आदिवासी सहभागिता की अनदेखी इसकी सफलता में बाधा बनती है।

रॉबिन्स, पी. (2000)	राज्य और स्थानीय ज्ञान के अंतर को समझना तथा प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन में उनके कार्यों का अनुभवजन्य विश्लेषण करना।	कुंभलगढ़ वन्यजीव अभयारण्य पर आधारित केस स्टडी, ज्ञान और सामाजिक कारकों (वर्ग, जाति, लिंग) का विश्लेषण।	अध्ययन ने दर्शाया कि स्थानीय राजनीति और संसाधनों पर दैनिक संघर्ष पर्यावरणीय बदलाव को आकार देते हैं। राज्य व स्थानीय गठबंधन प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन और नीति को प्रभावित करते हैं।
सुन्दर, एन. (2000)	भारत में संयुक्त वन प्रबंधन (जेएफएम) में 'संयुक्तता' की अवधारणा की जांच करना।	राज्य और समुदायों के बीच साझेदारी और वन प्रबंधन की प्रथाओं का विश्लेषण।	यह पाया गया कि जेएफएम का मूल एजेंडा राज्य द्वारा पहले ही तय होता है, जिससे इसे पूरी तरह से सहभागी नहीं माना जा सकता। हालांकि, सीमित विकल्पों के बावजूद, यह सरकार और समुदायों के बीच सहयोग का नया रूप प्रस्तुत करता है।

यदामा, जी., और डेवीज़-बॉयड, एम. (2001)	दक्षिण एशिया में सहभागी वानिकी प्रबंधन पर चर्चा और इसकी समस्याओं व संभावनाओं का अध्ययन।	भारत, नेपाल, भूटान में पिछले दशक से सहभागी प्रबंधन वानिकी प्रबंधन का मुख्य मार्गदर्शक रहा।	पिछले एक दशक में सहभागी वानिकी भारत, नेपाल, और भूटान के लिए प्राथमिक प्रबंधन दृष्टिकोण रहा। JFM ने सामुदायिक और राज्य सहभागिता द्वारा वनों के संरक्षण और पुनर्जनन का प्रयास किया। सामाजिक पूंजी, आदिवासी भागीदारी के लिए महत्वपूर्ण है। हालांकि, आदिवासी समुदायों को सफलतापूर्वक शामिल करने में कई चुनौतियाँ मौजूद हैं।
रंगन, एच., और लेन, एम.बी. (2001)	ऑस्ट्रेलिया और भारत में स्वदेशी समुदायों के लिए वन संसाधनों की पहुंच और न्याय का विश्लेषण।	स्वदेशी समुदायों के वन अधिकारों में ऐतिहासिक वंचना और संस्थागत सुधार के प्रयास।	ऑस्ट्रेलिया में क्षेत्रीय वन समझौते (RFA) और भारत में JFM की प्रक्रियाएँ स्वदेशी समुदायों के वन संसाधन प्रबंधन में भूमिका निभाती हैं। अध्ययन ने कमजोरियों और ताकतों की पहचान

			की, विशेष रूप से अधिकार, नियंत्रण और लोकतांत्रिक पहुंच के संदर्भ में। इन नीतियों की प्रभावशीलता स्वदेशी समुदायों की स्वामित्व और प्रशासनिक क्षमताओं पर निर्भर करती है।
जॉनसन, सी., और फ़ोर्सीथ, टी. (2002)	"अधिकार-आधारित" दृष्टिकोण के तहत न्यायसंगत विकास को समुदाय और व्यक्तिगत अधिकारों से जोड़ना।	सामुदायिक अधिकारों, ग्रामीण आजीविका और वानिकी प्रबंधन में न्याय का अध्ययन।	थाईलैंड के "सामुदायिक वानिकी विधेयक" ने सामुदायिक अधिकारों को स्थापित किया। लेकिन वाणिज्यिक और राज्य के हस्तक्षेप ने अल्पसंख्यक समूहों को कमजोर किया। अध्ययन ने राज्य और समाज की भूमिकाओं और सीमाओं को संसाधन प्रबंधन में निर्णायक बताया।

मैकएवॉय, एल. (2002)	अमेरिकी पश्चिम में संरक्षित क्षेत्रों के प्रति अमेरिकी भारतीयों की सांस्कृतिक समझ का अध्ययन।	अमेरिकी भारतीयों और श्वेत अमेरिकियों के दृष्टिकोण में संरक्षित क्षेत्रों के प्रतीकात्मक और व्यावहारिक महत्व में अंतर।	अमेरिकी भारतीयों और श्वेत अमेरिकियों के बीच संरक्षित क्षेत्रों के प्रति भिन्न दृष्टिकोण संघर्ष का कारण बने। अमेरिकी भारतीयों के लिए सांस्कृतिक और ऐतिहासिक दृष्टिकोण प्रमुख था, जबकि श्वेत अमेरिकियों के लिए पर्यटन और मनोरंजन का महत्व था। अध्ययन ने सांस्कृतिक अंतर और प्रबंधन में उनके प्रभाव को उजागर किया।
ओबिरी, जे.ए., और लॉज़, एम.जे. (2002)	दक्षिण अफ्रीका में राज्य से समुदायों को अधिकार हस्तांतरण के साथ नई वन प्रबंधन नीतियों का अध्ययन।	समुदायों और पारंपरिक संसाधन उपयोगकर्ताओं के दृष्टिकोण से वन प्रबंधन की धारणा।	सामुदायिक वन प्रबंधन (CFM) को सीमित समर्थन मिला। पुराने उपयोगकर्ता सतत वन प्रबंधन (SFM) का समर्थन करते हैं। सहभागी वन प्रबंधन (PFM) पर असमंजस पाया

			गया, जो नई नीतियों की स्पष्टता की कमी को दर्शाता है। अध्ययन ने सभी हितधारकों द्वारा नियंत्रित उपयोग के समर्थन को चिह्नित किया और सीएफएम पर ज्यादा जोर और राज्य इनपुट की जरूरत को स्थापित किया।
वांडरगेस्ट, पी. (2003)	नस्लीयकरण, पहचान और संसाधन राजनीति के अंतर्संबंध को समझना।	थाईलैंड में स्थानिक और जातीय पहचान के माध्यम से संसाधन अधिकार।	स्थानों का नस्लीयकरण सामुदायिक वानिकी और नागरिकता के लिए केंद्रीय है। जातीयता आधारित आंदोलन नहीं, बल्कि नागरिक अधिकारों का प्रसार था।
ट्रॉप, जे. (2003)	औपनिवेशिक काल में स्वदेशी जंगलों के राज्य नियंत्रण की प्रक्रिया का अध्ययन।	दक्षिण अफ्रीका में औपनिवेशिक और रंगभेद काल का वनीकरण और सामाजिक प्रभाव।	राज्य वानिकी ने अफ्रीकी समुदायों की आजीविका और सामाजिक संरचना बदली। यह पारिस्थितिक और सामाजिक पुनर्गठन

			संघर्षों का प्रतीक बना।
व्हाइटहेड, जे. (2003)	बांध विस्थापन और नवउदारवादी पूंजीवाद के बीच संबंध का अध्ययन।	बांध निर्माण और वैश्विक आदिम संचय।	बांध परियोजनाओं ने भूमि-अधिकार कमजोर किए। नीतियां निजीकरण और पर्यावरण प्रबंधन के बीच तनाव उजागर करती हैं। सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं पर व्यापक प्रभाव।
मेहता, ए.के., शाह, ए. (2003)	दीर्घकालिक गरीबी और उसकी बहुआयामी प्रकृति का विश्लेषण।	क्षेत्रीय और ऐतिहासिक रूप से हाशिए पर रहे समूहों की गरीबी का अध्ययन।	गरीबी असमानता भूमि-अभाव, संसाधन विभाजन, और सामाजिक कारकों से जुड़ी। यह नीति निर्माताओं के लिए महत्वपूर्ण दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है।
पंडित, बीएच, थापा, जीबी (2004)	वन प्रबंधन प्रणालियों के अंतर्गत गैर-लकड़ी उत्पादों की प्रथाओं का मूल्यांकन।	वन संसाधन उपयोग, प्रबंधन और क्षरण का विश्लेषण।	सामुदायिक प्रणालियों की तुलना में सरकारी वनों में अधिक क्षरण पाया गया। संस्थागत व्यवस्थाओं की कमी एनटीएफपी क्षरण

			का प्रमुख कारण। सतत नीति का अभाव उजागर।
पंडित, बीएच, और थापा, जीबी (2004)	सरकारी और सामुदायिक वन प्रबंधन प्रणालियों के तहत गैर-लकड़ी वन उत्पादों (एनटीएफपी) के उपयोग और संग्रह का मूल्यांकन करना।	वनों और एनटीएफपी की स्थिति पर सरकारी एवं सामुदायिक वन प्रबंधन प्रणालियों का प्रभाव।	एनटीएफपी का क्षरण लकड़ी से अधिक था, विशेषतः सरकारी वनों में, जिसके पीछे उचित सरकारी नीति और संस्थागत व्यवस्था की कमी जिम्मेदार थी। एनटीएफपी ने ग्रामीणों को आर्थिक मदद प्रदान की।
वीरा, बी. (2005)	भागीदारी वानिकी के तहत राज्य और स्थानीय समुदायों के बीच सहयोगात्मक वन प्रबंधन की प्रगति और सीमाओं का विश्लेषण।	भागीदारी वानिकी की व्यवहारिक चुनौतियां और इसके परिणामस्वरूप समाज में पदानुक्रमित संरचनाओं का स्थायित्व।	भागीदारी वानिकी का नौकरशाही दृष्टिकोण असमानता को बढ़ावा देता है। सामाजिक संरचनाओं और नौकरशाही व्यवस्थाओं ने इसके सकारात्मक प्रभाव को सीमित कर दिया।
स्वातुक, एल.ए. (2005)	समुदाय आधारित प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन (सीबीएनआरएम) के	सीबीएनआरएम का प्रभाव और उसके तहत स्थानीय और	सीबीएनआरएम के परिणाम मिश्रित थे। स्थानीय और अंतर्राष्ट्रीय कारकों

	अंतर्गत स्थानीय संघर्ष और वैश्विक प्रभाव का विश्लेषण।	वैश्विक हितों के बीच द्वंद्व।	के बीच तालमेल में विफलता ने इसके दीर्घकालिक प्रभाव को बाधित किया।
ज़र्चर, एस. (2005)	थाईलैंड में सामुदायिक वानिकी और राज्य नीति में पर्यावरण आंदोलनों की भूमिका का अध्ययन।	सामुदायिक वन विधेयक पर स्थानीय लोगों के अधिकारों को समर्थन और राष्ट्रीय नीति स्तर पर संघर्ष।	स्थानीय स्तर पर संघर्ष के बिना राष्ट्रीय नीति में ध्यान नहीं गया। पर्यावरण आंदोलन, सामुदायिक वन विधेयक के समर्थन हेतु औपचारिक संरचना विकसित करने में सहायक रहे।
राव, एन. (2005)	संथाल समुदाय में रिश्तेदारी और इसके राज्य व बाजार के साथ संबंधों का अध्ययन।	पारंपरिक संरचनाएं और उनकी भूमिका, विशेषतः महिलाओं के भूमि अधिकार और सामाजिक समर्थन पर।	रिश्तेदारी संसाधन दावे का जरिया भी हो सकती है, जबकि यह महिला अधिकारों में कमी का कारण बन सकती है। महिलाएं सामाजिक समर्थन और कानूनी उपायों से अधिकार प्राप्त कर सकती हैं।

दामोदरन, ए. (2006)	भारत में जनजातीय मुद्दों और वन नीतियों में एकीकृत दृष्टिकोण की आवश्यकता को रेखांकित करना।	भारत के वायनाड जिले में जनजातीय संघर्ष और वन व विकास नीतियों के आपसी प्रभाव।	वन नीतियाँ जनजातीय अशांति और संसाधन संघर्ष की जड़ थीं। विकास कार्यक्रमों की गलतियों ने समस्याएं बढ़ाईं। जनजातीय समावेशन और जैव विविधता संरक्षण को नीतिगत प्रतिमान में स्थान देना होगा।
सेन, ए. और लालह्लीतपुई, ई. (2006)	वनों के उपयोग और विवादों को समझना, और स्थानीय जीवन में वनों की सांस्कृतिक भूमिका पर अध्ययन।	वन अधिकार, संरक्षण नीतियों में जनजातीय समुदायों की भागीदारी और विकास प्रक्रियाओं में पारंपरिक प्रणालियों की उपेक्षा।	वनों से संबंधित विवाद संरक्षण और विकास नीतियों में अस्पष्टता के कारण जारी हैं। सांस्कृतिक प्रणालियों के प्रति असंवेदनशील नीतियाँ संघर्ष बढ़ाती हैं। जनजातीय नेतृत्व और संवाद वन नीतियों को प्रभावी बना सकते हैं।
क्रूकर, आर.ए. (2006)	उत्तरी थाईलैंड में पहाड़ी जनजातियों के हाशिए पर डाले जाने से सामाजिक संघर्ष के खतरों का मूल्यांकन।	भूमि हड़पने, जनसंख्या वृद्धि, और पारंपरिक संसाधनों तक जनजातियों की सीमित पहुंच के	पारिस्थितिक हाशिए पर डाले जाने से पहाड़ी जनजातियों को गंभीर बाधाओं का सामना करना पड़ा। पर्यावरण और

		कारण उपजी समस्याएं।	जनजातीय सुरक्षा को संतुलित करना महत्वपूर्ण है, अन्यथा सामाजिक संघर्ष और विघटन बढ़ सकते हैं।
सरवनन, वी. (2006)	मद्रास प्रेसीडेंसी में औपनिवेशिक कृषि नीतियों के आदिवासी क्षेत्रों पर प्रभाव का विश्लेषण।	आदिवासी क्षेत्रों में औपनिवेशिक भूमि नीतियां, पारंपरिक आदिवासी अर्थव्यवस्था और समाज पर प्रतिकूल प्रभाव।	औपनिवेशिक नीतियों ने आदिवासियों की परंपरागत प्रणाली को बाधित किया और उन्हें हाशिए पर धकेल दिया। नीतियों ने आदिवासी हितों को उपेक्षित किया, जिससे उनकी सामाजिक और आर्थिक संरचना कमजोर हो गई।
रसूल, जी. (2007)	दक्षिण एशिया के पर्वतीय वनों में मूल निवासियों की भूमिका और बाहरी हस्तक्षेप के प्रभावों का अध्ययन।	वन संसाधन क्षरण, नीतिगत हस्तक्षेप, और स्थायी पारंपरिक पद्धतियों के प्रति उपेक्षा।	बाहरी नीतिगत हस्तक्षेप और परियोजनाओं ने वन संसाधनों पर नकारात्मक प्रभाव डाला। वनों के संरक्षण के लिए नीतिगत और सामाजिक-राजनीतिक

			प्रक्रियाओं की गहन समझ आवश्यक है। सभी की समान पहुंच और संसाधन प्रबंधन को सुनिश्चित करने की जरूरत है।
शाह, ए. (2007)	भारत में स्वदेशीता पर बहसों और आदिवासी पहचान की राजनीति का विश्लेषण।	स्वदेशी लोगों के अधिकार, संरक्षण और आत्मसात से जुड़े तनाव।	स्वदेशीता पर बहसें मार्क्सवादियों, स्वदेशी कार्यकर्ताओं और हिंदू दक्षिणपंथियों के विचारों पर केंद्रित रहीं। संरक्षण और विकास की नीतियों के असंगत प्रभावों ने स्थानीय स्तर पर वर्गीय असमानता और हाशिये पर धकेलने की प्रक्रिया को बढ़ाया।
मरे ली, टी. (2007)	सरकारी हस्तक्षेपों की जटिल संरचना और उनके प्रथाओं का अध्ययन।	शासन प्रक्रियाओं में तत्वों के संयोजन की जटिलता।	विभिन्न प्रथाएँ, जैसे संरेखण, ज्ञान को अधिकृत करना और विफलताओं का प्रबंधन, एजेंटों और उद्देश्यों को एकजुट करने में सक्रिय रहीं। यह संयोजन

			कनाडा से इंडोनेशिया तक तीन दशकों से संचालित है।
नॉरगार्ड, के.एम. (2007)	जैविक आक्रमण के पर्यावरणीय और सामाजिक प्रभावों का अध्ययन।	जोखिम की धारणा और पर्यावरणीय न्याय के मुद्दे।	करुक जनजाति और गैर-भारतीय समुदायों के बीच जोखिम की धारणाओं में अंतर पाया गया। शाकनाशियों के उपयोग से पर्यावरणीय अन्याय के गंभीर मुद्दे उभरे। जोखिम उठाने की सामाजिक और नस्लीय विषमताएँ उभर कर सामने आईं।
सैकिया (2008)	असम में वन भूमि पर स्वामित्व सुरक्षा और किसान आंदोलन का अध्ययन।	भूमि संघर्ष और समाज-आर्थिक प्रभाव।	तेंग एनी के किसानों ने वन भूमि पर स्वामित्व का दावा किया, जिससे कृषि संबंधी लामबंदी हुई। संघर्ष ने मानव दखल और वर्गीय अंतर के जटिल स्वरूप को उजागर किया।

वांडेकरखोव, एन., सुयकेन्स, बी. (2008)	बोडोलैंड के संघर्ष की जटिलताओं और उसके सामाजिक-आर्थिक प्रभावों का अध्ययन।	आदिवासी समुदायों और बोडोलैंड में संघर्ष।	संघर्ष के दौरान सामाजिक और आर्थिक संसाधनों में बदलाव से पारंपरिक सामंजस्य बिगड़ा। शांति प्रक्रिया में सभी समुदायों के बीच संसाधन संतुलन की आवश्यकता है।
रामनाथ (2008)	वन अधिकार अधिनियम, 2006 के पक्ष-विपक्ष का विश्लेषण और क्रियान्वयन बाधाओं का अध्ययन।	अधिनियम की व्यवहार्यता और आदिवासी अधिकारों के संरक्षण में आने वाली चुनौतियाँ।	अधिनियम ने पारंपरिक वन अधिकारों की मान्यता द्वारा आदिवासियों को सशक्त किया, लेकिन ग्राम सभाओं के अधिकार और वन संरक्षण के मध्य संतुलन में चुनौतियाँ बनी रहीं।
ज्यूइट, एस. (2008)	झारखंड आंदोलन का विश्लेषण और प्राकृतिक संसाधन संघर्ष की राजनीतिक पारिस्थितिकी दृष्टि से जांच।	भूमि विस्थापन, खनन, वन नीति, और हिंसक विरोध आंदोलन के कारणों पर प्रकाश डाला गया।	स्थानीय संघर्ष व्यापक राजनीतिक मुद्दों में बदल सकते हैं। सामुदायिक भागीदारी से स्थानीय संघर्षों का शांतिपूर्ण समाधान और

			व्यापक हिंसा की रोकथाम संभव।
सुयकेन्स, बी. (2009)	आदिवासियों और वनों के बीच परस्पर विरोधी आख्यानों का विश्लेषण और उनके प्रभाव का अध्ययन।	"प्राकृतिक रक्षक" और "हानिकारक प्रथाओं" के विरोधाभास से वन कानून और सामाजिक संरचना पर प्रभाव।	विरोधाभासी आख्यानों ने आदिवासियों की अधिकार प्राप्ति और संसाधन पहुंच को प्रभावित किया। यह स्थानीय व्यवस्थाओं और भारतीय वन कानूनों में जटिलता उत्पन्न करता है।
हरीशा, एमके, और रानी, एम. (2009)	ब्रिटिश काल में वनों के आरक्षण और व्यावसायिककरण के आदिवासियों पर प्रभावों का अध्ययन।	वनों की व्यावसायिक मांग और उनके नष्ट होने से आदिवासियों की आजीविका पर नकारात्मक प्रभाव।	नीतियों ने आदिवासियों को पारंपरिक जीवन से वंचित किया, जिससे आंदोलनों का उदय हुआ। वन अधिकार अधिनियम, 2006 ने कुछ राहत और अधिकार सुनिश्चित किए।
कुमार, एस. (2009)	भारत में ब्रिटिश कालीन वन कानूनों के विकास और गुजरात में आदिवासियों पर	वन कानूनों का ऐतिहासिक विकास, क्षेत्रीय नियोजन, और आदिवासी अधिकारों पर प्रभाव।	वन कानूनों ने आदिवासियों के अधिकारों पर अंकुश लगाया, बाद में स्वतंत्रता पश्चात कुछ सुधार हुए। यह

	उनके प्रभाव का विश्लेषण।		क्षेत्रीय प्रशासन और सामाजिक अधिकारों के समायोजन के लिए आवश्यक दृष्टिकोण सुझाता है।
थाय्यिल, एन. (2009)	भारतीय न्यायिक इतिहास में एक महत्वपूर्ण वन संसाधन मामले की प्रक्रियाओं की जाँच करना।	सर्वोच्च न्यायालय में वन कानूनों का स्पष्टीकरण और पर्यावरण की रक्षा की प्रक्रिया।	संविधानिक न्यायालयों की प्रवृत्ति ने विरोधी सार्वजनिक हितों को बढ़ाया। अदालतों ने सतत विकास को परिभाषित कर लागू किया, जो कभी-कभी वैधानिक सार से भटक जाता था।
हंट्सिंगर, एल., और डाइकमैन, एल. (2010)	आदिवासी भूमि अधिकारों पर भारतीय भूमि-नीति पहलों का प्रभाव जाँचना।	भूमि स्वामित्व, संसाधनों का वितरण और स्वदेशी जनों के अधिकार।	पिछले 150 वर्षों में स्वदेशी भूमि-नीति नीतियाँ पारिस्थितिक और आदिवासी जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं। वितरण न्याय को स्थायित्व से जोड़ा गया।
कुमार, केए, और रेड्डी, एमजी (2010)	आदिवासी समुदाय की स्थिति पर राज्य नीतियों का प्रभाव।	सरकारी नीतियों का आदिवासी समुदाय की आजीविका पर प्रभाव।	आदिवासी समुदाय पिछड़े हुए हैं, वन अधिकार अधिनियम का सीमित प्रभाव पड़ा है, और

			मुख्यधारा में समावेशन में कमी है।
झा, एस. (2010)	भारत में वन संघर्षों और आंदोलनों का ऐतिहासिक विश्लेषण।	उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष और वन आंदोलन का प्रभाव।	वन संघर्षों और आंदोलनों में ढेर सारी बाधाएँ आईं, फिर भी वे महत्वपूर्ण कदम रहे और संघर्षों ने बदलाव के प्रयास किए।
डैश, टी. (2010)	उड़ीसा में वन अधिकार अधिनियम के कार्यान्वयन का अध्ययन।	वन समुदायों के अधिकारों की मान्यता और संरक्षण प्रथाएँ।	इस अधिनियम ने वन समुदायों के अधिकारों और जैव विविधता की रक्षा में योगदान किया, लेकिन कार्यान्वयन में चुनौतियाँ आईं।
सैंडब्रुक, सी., नेल्सन, एफ., एडम्स, डब्ल्यू.एम., और अग्रवाल, ए. (2010)	विकेंद्रीकृत वन शासन के द्वारा वन संसाधनों की कटाई और उत्सर्जन को कम करना।	वनों के संरक्षण और जलवायु परिवर्तन पर विकेंद्रीकरण की भूमिका।	विकेंद्रीकृत वन शासन राज्य-आधारित शासन से कम लागत पर अधिक प्रभावी हो सकता है, बशर्ते स्थानीय अधिकारों को सशक्त किया जाए। REDD नीतियाँ स्थानीय राजनीतिक-आर्थिक

			बाधाओं का सामना करती हैं।
बोस, पी. (2011)	स्वदेशी महिलाओं के वनभूमि प्रबंधन में राजनीतिक प्रतिनिधित्व का विश्लेषण।	वन अधिकार अधिनियम 2006 और आदिवासी महिलाओं के अधिकार।	अध्ययन से पता चला कि आदिवासी महिलाओं के वनभूमि अधिकारों में उनके राजनीतिक प्रतिनिधित्व का सीमित प्रभाव था। संरचनात्मक बाधाएं थीं जो उनके विकास में रुकावट बनीं।
बोस, पी. (2011)	राजस्थान में आदिवासी महिलाओं की वन भूमि तक पहुँच के समावेशन/बहिष्करण का विश्लेषण।	वन पट्टा सुधार और हाशिए पर पड़े समूहों का समावेश।	वनपट्टा सुधारों ने आदिवासी महिलाओं की वनभूमि पर पहुँच में बदलाव किया, लेकिन सामाजिक-आर्थिक बाधाओं के कारण इसका प्रभाव सीमित रहा। अधिक सुधारों की आवश्यकता है।
गोछायात, एस.ए. (2011)	FRA 2006 और आदिवासी समुदायों को उनके वन और भूमि अधिकारों की कानूनी मान्यता देना।	आदिवासी समुदायों के वन अधिकार और FRA 2006।	FRA 2006 ने आदिवासी समुदायों को वन और भूमि अधिकारों का कानूनी संरक्षण

			प्रदान किया, औपनिवेशिक अन्याय का निवारण किया, और समुदायों को विकास में समान अवसर दिए।
सव्यसाची (2011)	FRA 2006 के वनों पर पूंजीवादी दृष्टिकोण का विश्लेषण और इसके सामाजिक प्रभाव।	FRA 2006 और वनवासियों के हितों का सामाजिक-आर्थिक प्रभाव।	FRA 2006 ने वनों को मुनाफे के स्रोत के रूप में बदल दिया, जिससे आदिवासी और वनवासियों के अधिकारों में कमी आई और पारिस्थितिकीय सेवाओं पर प्रभाव पड़ा। वनों के संरक्षण में यह अधिनियम असफल रहा।
कुमार, के., और केर, जे.एम. (2012)	हाशिए पर पड़े वर्गों के लोकतांत्रिक समावेश और उनके अधिकारों की मान्यता पर चर्चा।	"वन अधिकार कानून" द्वारा हाशिए पर पड़े समुदायों का अधिकारों के संरक्षण और लोकतांत्रिक प्रक्रिया में समावेश।	जमीनी संगठनों ने सफलतापूर्वक वन अधिकार कानून को पारित करवाया, और यह दिखाया कि लोकतांत्रिक प्रक्रिया में सक्रियता और सामूहिक प्रयास हाशिए पर पड़े लोगों

			के अधिकारों की रक्षा में प्रभावी होते हैं।
बलिल्ला, वी.एस., अनवर- मचेनरी, जे., मचेनरी, एम.पी., पार्किंसन, आर.एम., और बनल, डी.टी. (2012)	ऐटा जनजाति के पारंपरिक वन संसाधन उपयोग और बाहरी अतिक्रमण के प्रभाव का अध्ययन।	ऐटा जनजाति की सांस्कृतिक प्रणालियाँ, वन संसाधन उपयोग और बाहरी दबावों से उत्पन्न पर्यावरणीय चुनौतियाँ।	ऐटा समुदायों ने पारंपरिक तौर पर भूमि और वन संसाधन का उपयोग करते हुए पर्यावरणीय और सामाजिक चुनौतियों का सामना किया, हालांकि बाहरी दबावों ने उनके जीवन को प्रभावित किया।
ओरांव, वी. (2012)	आदिवासी गांवों में बदलती हुई आजीविका प्रणालियों का विश्लेषण।	ग्रामीण और आदिवासी परिवारों के आजीविका पर आधुनिक बदलावों का प्रभाव।	आदिवासी परिवारों की पारंपरिक आजीविका प्रणालियाँ अस्थिर हो गईं, और इन परिवारों को वैकल्पिक आजीविका साधनों का सहारा लेना पड़ा। आधुनिक हस्तक्षेपों और बढ़ती आवश्यकताओं ने इन्हें संघर्ष में डाला।

बोस, पी. (2013)	वन अधिकार अधिनियम 2006 के प्रभावों और आदिवासी भूमि अधिकारों के दावों का अध्ययन।	"वन अधिकार अधिनियम" के प्रभाव और वन भूमि पर आदिवासी परिवारों के अधिकार।	वन अधिकार अधिनियम ने आदिवासी परिवारों के भूमि अधिकारों को औपचारिक मान्यता देने में मदद की, लेकिन इससे आदिवासी समुदायों में संघर्ष और तनाव भी उत्पन्न हुआ, खासकर उनके अधिकारों की राजनीतिक लड़ाई में।
स्प्रिंगेट-बैगिंस्की, ओ., सरीन, एम., और रेड्डी, एमजी (2013)	भारत के वन अधिकार अधिनियम के कार्यान्वयन का मूल्यांकन और आंध्र प्रदेश में इसका असर।	स्थानीय आदिवासी समुदायों की वन अधिकारों तक पहुँच और आंध्र प्रदेश के वन विभाग की भूमिका।	अध्ययन में पाया गया कि आंध्र प्रदेश में वन अधिकारों के अधिग्रहण में कई कानूनी और प्रशासनिक चुनौतियाँ थीं, जिससे आदिवासियों के अधिकारों की रक्षा में बाधाएँ उत्पन्न हुई। यह राज्य सरकार और वन विभाग के हस्तक्षेप के कारण था।

केनेडी, जे., और किंग, एल. (2013)	माओवादी विद्रोह के प्रसार और आदिवासियों के अधिकारों का अध्ययन।	माओवादी विद्रोह की वृद्धि और आदिवासियों के भूमि अधिकारों का संबंध।	अध्ययन ने यह बताया कि माओवादी विद्रोह उन क्षेत्रों में ज्यादा फैला जहां आदिवासियों के पास अपनी भूमि और संसाधनों पर नियंत्रण था। विद्रोह का समर्थन और विरोध दोनों ही आदिवासी समुदायों के हितों और पारंपरिक ढांचे पर आधारित थे।
कृष्णन, जे. और जॉर्ज, ए. (2014)	जल संसाधनों के दोहन और असमान पहुंच का जल न्याय पर प्रभाव का विश्लेषण किया गया।	जल न्याय ढांचा, जल उपयोग, विनियोग, सामाजिक पहलु, पारिस्थितिकीवाद	यह अध्ययन दर्शाता है कि जल संसाधनों के अत्यधिक दोहन और पारिस्थितिकी क्षरण के बीच संबंध है, और जल न्याय का उल्लंघन भी हो रहा है। इसके परिणामस्वरूप जल मुद्दों पर नीति सुधार की आवश्यकता का संकेत दिया गया।

डे, एस., रेसरेक्सियन, बी.पी. और डोनीस, पी. (2014)	गारो समुदाय में लिंग और पर्यावरणीय संघर्षों का विश्लेषण किया गया।	लिंग, पर्यावरण, पारंपरिक संस्कृति, वन पारिस्थितिकी, नारीवाद	गारो समुदाय में लिंग-विशिष्ट भूमिकाएं स्पष्ट हुईं, जिनसे वन नीतियों में सुधार की आवश्यकता जताई गई। अध्ययन ने लिंग और पर्यावरणीय मुद्दों के पारस्परिक संबंध पर जोर दिया और स्थानीय अनुकूलन की महत्ता बताई।
लिन, के., डेगल, जे. और हॉफमैन, जे. (2014)	आदिवासी पारंपरिक खाद्य संसाधनों पर जलवायु परिवर्तन के प्रभाव का अध्ययन किया गया।	जलवायु परिवर्तन, आदिवासी खाद्य सुरक्षा, पारंपरिक जीवनशैली	अध्ययन में जलवायु परिवर्तन के प्रभाव को गंभीर बताया गया, जिसमें जलवायु अनुकूलन रणनीतियों की आवश्यकता और संघीय सहयोग की बात की गई। खाद्य संसाधनों के संरक्षण के लिए रणनीतियाँ सुझाई गईं।

चतुर्वेदी ए., हजारे टी.एन., पाटिल एन.जी., चतुर्वेदी ए., मुंगोले ए., और कांबले आर. (2015)	गोंदिया जिले में सीमांत भूमि पर निर्भर जनजातीय समुदायों की आजीविका को सुधारने का उद्देश्य।	समुदाय, भूमि उपयोग योजना, एनटीएफपी, संसाधन प्रबंधन	भूमि उपयोग योजना के माध्यम से उत्पादकता में वृद्धि हुई और आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ, जिसमें सामुदायिक भागीदारी की भूमिका महत्वपूर्ण पाई गई। संसाधन प्रबंधन के लिए प्रभावी हस्तक्षेप आवश्यक पाया गया।
मोहंती, पी. (2015)	भारत में गरीबी, भुखमरी और आदिवासियों के अधिकारों का उल्लंघन पर अध्ययन किया गया।	गरीबी, भुखमरी, आदिवासी अधिकार, राज्य नीति, वन्य जीव संरक्षण	भारत में आदिवासियों के अधिकारों का उल्लंघन हुआ और राज्य द्वारा लागू विकास नीतियों में उनकी समस्याओं को नजरअंदाज किया गया। इसके अलावा, वन अधिकार अधिनियम की पूरी तरह से अनदेखी की गई, जिससे आदिवासी

			समुदाय प्रभावित हुए।
कुमार, के., सिंह, एनएम, और केर, जेएम (2015)	वन अधिकार अधिनियम और संयुक्त वन प्रबंधन कार्यक्रम का लोकतांत्रिक वन शासन पर प्रभाव	प्राकृतिक संसाधन शासन, वन अधिकार मान्यता, JFM	RFRA के कार्यान्वयन में विरोध का सामना करना पड़ा। हालांकि, यह वनवासियों के प्रति जवाबदेही को बढ़ाता है और कानूनी अधिकारों को शक्ति प्रदान करता है।
त्रिपाठी, पी. (2016)	आदिवासी समुदायों की वन संसाधनों पर निर्भरता और उनकी अधिकार स्थिति का विश्लेषण	जनजातीय समुदाय, औपनिवेशिक असर, वन अधिकार	आदिवासी वन संसाधनों पर निर्भर हैं, लेकिन औपनिवेशिक शासन ने उनके अधिकारों को सीमित किया। उन्हें उचित नीति और कानूनी अधिकारों की आवश्यकता है।
सिरिपुरापु, के., मोहंती, पी., कोटमराजू, के., और	एफआरए 2006 का उपनिवेशी शासन से प्रभावित होने की जांच	विकेंद्रीकरण, एफआरए, संस्थागत सुधार	एफआरए 2006 को एक प्रगतिशील कदम मानते हुए, शोधकर्ताओं ने पाया

जियोरेस, एम. (2016)			कि भारत की वन नीतियाँ उपनिवेशी शासन के प्रभाव में हैं, जिससे संघर्ष उत्पन्न होते हैं।
पुर्टी, एस. (2017)	सारंडा वन क्षेत्र में आदिवासी महिलाओं की लघु वनोपज पर निर्भरता	आदिवासी महिलाएँ, लघु वनोपज, राज्य नीति	आदिवासी महिलाएँ औद्योगिकीकरण, खनन और वन कटाई के कारण संघर्ष कर रही हैं, और उनकी अधिकारों का उल्लंघन होता है। राज्य द्वारा उन्हें अस्वीकार किया जाता है।
सत्पथी, बी. (2017)	एफआरए 2006 का कार्यान्वयन और वनवासी समुदायों की स्थिति	एफआरए, वन अधिकार, कानूनी चुनौतियाँ	एफआरए के कार्यान्वयन में असममित सूचना, अलोकतांत्रिक भागीदारी, और जवाबदेही की कमी जैसी समस्याएँ थीं, जिससे कानून का प्रभावी क्रियान्वयन असंभव हो रहा था।
सारंगी, टी.के. (2017)	संरक्षित क्षेत्रों में प्राकृतिक संसाधनों का स्थानीय समुदायों	संरक्षण, वन्यजीवों का संरक्षण, आजीविका अधिकार	संरक्षण और आजीविका के बीच संघर्ष होता है,

	की आजीविका पर प्रभाव		विशेषकर जब स्थानीय लोग वन संसाधनों का उपयोग करते हैं। एफआरए का उचित क्रियान्वयन आवश्यक है।
पाटीदार, जे., कुम्हार, बी., म्हस्के, एस., और जाट, एस. (2018)	गरीबी कम करने के प्रयासों में सुधार हेतु आजीविका परिसंपत्तियों का विश्लेषण	जनजातीय समुदायों की आजीविका परिसंपत्तियाँ	जनजातीय समुदायों की आजीविका परिसंपत्तियाँ समाज, अर्थव्यवस्था, और वातावरण से प्रभावित हैं; उनका जीवन वन उत्पादों पर आधारित है।
ज़ेवियर, एस. (2018)	कादर जनजाति की समस्याओं का विश्लेषण	जनजातीय समस्याएँ और सरकारी हस्तक्षेप	कादर जनजाति को वित्तीय संसाधनों की कमी, शिक्षा और स्वास्थ्य की समस्या, विस्थापन और शोषण जैसे मुद्दों का सामना था।
साहू, जी. (2019)	आदिवासी विकास परियोजनाओं पर प्रतिरोध का अध्ययन	खनन गतिविधियाँ और वन अधिकार	खनन गतिविधियाँ आदिवासी अधिकारों को प्रभावित करती हैं, लेकिन संवैधानिक प्रावधान आदिवासी अधिकारों

			की सुरक्षा में सहायक हैं।
नायक, ए. (2019)	कोंध जनजाति में महिलाओं का स्वदेशी ज्ञान और प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन पर अध्ययन	महिलाओं की भूमिका और प्राकृतिक संसाधन	कोंध जनजाति में महिलाएं पर्यावरण संरक्षण में सक्रिय रूप से योगदान देती हैं, और उनके पारंपरिक ज्ञान का संसाधनों के स्थायी उपयोग में योगदान है।
दास और त्यागी (2019)	वनवासी अधिकारों की मान्यता और संसाधन स्थिरता	सामुदायिक वन अधिकारों का प्रभाव	वन अधिकारों की प्रभावी मान्यता से संसाधन प्रबंधन और सामुदायिक स्थिरता में सुधार हुआ है, परंतु नीति कार्यान्वयन में चुनौतियाँ बनी रहती हैं।
डॉक्टर, एम.जे. (2020)	आदिवासी अधिकारों का प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन पर प्रभाव	प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन और पर्यावरणीय मुद्दे	आदिवासी सशक्तीकरण ने पर्यावरण प्रबंधन में बदलाव लाया है, लेकिन अभी भी कई चुनौतियाँ और संभावित परिदृश्य मौजूद हैं।

साहू, जी. (2021)	झारखंड में वन अधिकार कानून की कार्यान्वयन प्रक्रिया पर अध्ययन	वन अधिकारों की मान्यता और कार्यान्वयन समस्याएँ	कार्यान्वयन में अस्पष्टता और संसाधनों की कमी के कारण वन अधिकार दावों की मान्यता असमान रही, जिससे आदिवासियों को उनके अधिकारों को लागू करने में समस्याएँ आईं।
बोस, पी. (2023)	भारत के खनन राज्यों में स्वदेशी समुदायों के वन अधिकारों पर केंद्रीयकरण का प्रभाव जांचना।	खनन और वन अधिकारों का संघर्ष, स्वदेशी समुदाय, सामाजिक आंदोलनों, पारंपरिक वन अधिकार।	अध्ययन ने पाया कि स्वदेशी समुदाय खनन के खिलाफ संघर्ष कर रहे हैं और विकेंद्रीकरण एवं समुदाय-आधारित वन प्रशासन की मांग कर रहे हैं। इन समुदायों ने वन अधिकारों की बहाली और खनन नीति पर प्रभाव डाला।
विजयन, महानिदेशक, और उमामहेश्वरी, एस. (2023)	भारतीय जनजातियों की सांस्कृतिक संरचना और उनके संघर्षों को समझना।	जनजातियों के संघर्ष, गरीबी, गुलामी, सांस्कृतिक संरक्षण,	शोध ने बताया कि जनजातियाँ गरीबी, शोषण, और औद्योगिकीकरण के कारण अपने

		औद्योगिकीकरण का प्रभाव।	सांस्कृतिक अधिकारों की रक्षा के लिए संघर्ष कर रही हैं। ये संघर्ष उनकी सामाजिक संरचना का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बने हुए हैं।
डार, एच.ए., और वानी, जेड.ए. (2024)	जम्मू और कश्मीर में बकरवाल समुदाय के संघर्षों और सरकार की नीतियों पर अध्ययन।	बकरवाल समुदाय का जीवन, शिक्षा, स्वास्थ्य, राज्य-प्रेरित विकास, सीमावर्ती संघर्ष।	अध्ययन में पाया गया कि बकरवाल समुदाय सरकारी नीतियों के प्रति आक्रोश और असुरक्षा का सामना करता है। उनका पारंपरिक जीवन और सरकार की नीतियाँ असंगत हैं, जिससे विकास प्रक्रिया जटिल और विवादास्पद है।
शेट्टी और नायर (2024)	पश्चिमी अवधारणाओं के पार आदिवासी व्यवसायों के जटिल रिश्ते की व्याख्या।	औद्योगीकरण, उपनिवेशवाद, आदिवासी समुदायों की संस्कृति, पर्यावरणीय संतुलन।	शोध ने दिखाया कि औद्योगिकीकरण और उपनिवेशवाद ने आदिवासी समुदायों की परंपरागत आजीविका को नष्ट किया और

			पर्यावरणीय संतुलन को नकारात्मक रूप से प्रभावित किया। सामाजिक-राजनीतिक अन्याय ने यह संकट गहरा किया।
शर्मा, पी., और मोहन, के. (2024)	भौगोलिक स्थिति के आधार पर आदिवासी समुदायों के आजीविका के अवसरों का विश्लेषण।	भौगोलिक प्रभाव, आदिवासी आजीविका, औद्योगिकीकरण, सेवा क्षेत्र की भूमिकाएँ।	आदिवासी समुदायों को औद्योगिकीकरण से प्रभावित किया गया है, और शहरी केंद्रों के निकट स्थानों पर आजीविका के अवसर अधिक हैं। इसके विपरीत, दूरस्थ क्षेत्रों में उनके लिए सीमित अवसर हैं।
कर्माकर (2024)	पर्यावरणीय न्याय और आदिवासी समुदायों पर ऐतिहासिक अन्याय का विश्लेषण।	वन अधिकार, औपनिवेशिक शोषण, आदिवासी जीवनशैली, पर्यावरणीय न्याय।	इस अध्ययन में भूपाल के साहित्य का विश्लेषण किया गया, जिसमें आदिवासी समुदायों के शोषण, प्रकृति के साथ उनके संबंध, और पर्यावरणीय न्याय की

			आवश्यकता को उजागर किया गया।

अध्याय 6

औपनिवेशिक और औपनिवेशिकोत्तर काल के जनजातीय संघर्षों की तुलना (विस्तृत सारणी)

यह अध्ययन "औपनिवेशिक और औपनिवेशिक-उत्तरकालीन शासन के खिलाफ वन संसाधनों की पहुंच के लिए जनजातीय संघर्षों के ऐतिहासिक साक्ष्य: झारखंड के संदर्भ में एक अध्ययन" शीर्षक एक व्यापक ऐतिहासिक और सामाजिक-राजनीतिक विश्लेषण है। इसका मुख्य उद्देश्य झारखंड क्षेत्र में रहने वाले जनजातीय समुदायों द्वारा वन संसाधनों पर पारंपरिक अधिकारों और उनकी आजीविका के लिए लड़ाई के ऐतिहासिक प्रमाणों और संघर्षों का विश्लेषण करना है। नीचे अध्ययन के मुख्य बिंदुओं का सार प्रस्तुत किया गया है:

तालिका 6.1 : औपनिवेशिक एवं औपनिवेशिकोत्तर काल की तुलना

पहलू	औपनिवेशिक काल (1947 से पहले)	औपनिवेशिकोत्तर काल (1947 के बाद)
समय अवधि	1947 से पहले, जब ब्रिटिश सरकार ने भारत पर शासन किया और जमींदारी व्यवस्था तथा वन कानून लागू किए।	1947 के बाद, जब भारत स्वतंत्र हुआ लेकिन उपनिवेशीय कानूनों और औद्योगिकीकरण ने आदिवासियों के अधिकार सीमित किए।
मुख्य आंदोलन/संघर्ष	संताल हूल (1855-56), कोल विद्रोह (1831-32), पलामू विद्रोह (1857), चौल विद्रोह (1913) जैसे संघर्ष।	नर्मदा बचाओ आंदोलन (1980-90), कंधमाल संघर्ष (2000), और वन अधिकार आंदोलन।
मुख्य कारण	ब्रिटिश नीतियों द्वारा जंगलों और भूमि पर कब्जा, जमींदारी व्यवस्था, कर प्रणाली, और आदिवासियों की आजीविका का ह्रास।	औद्योगीकरण, बांध परियोजनाएँ, खनन, और विस्थापन; वन अधिकारों की अनदेखी और कानूनी प्रक्रिया में देरी।

संघर्ष का स्वरूप	हिंसक विद्रोह, जैसे सशस्त्र संघर्ष और स्थानीय संगठनों का सामूहिक प्रतिरोध।	शांतिपूर्ण प्रदर्शन, सत्याग्रह, कानूनी और सामाजिक जागरूकता अभियानों का सहारा।
उद्देश्य	पारंपरिक वन संसाधनों और भूमि अधिकारों को पुनः प्राप्त करना; ब्रिटिश शासन और जमींदारी प्रणाली का विरोध।	विस्थापन रोकना, पारंपरिक संसाधनों के अधिकारों की कानूनी बहाली और पर्यावरणीय संतुलन की रक्षा।
परिणाम/प्रभाव	विद्रोह दबा दिए गए; परंतु इनसे जनजातीय समस्याओं और अधिकारों पर ध्यान केंद्रित हुआ। स्वतंत्रता संग्राम को प्रेरणा मिली।	कानून जैसे वन अधिकार अधिनियम (2006) अस्तित्व में आए; हालांकि क्रियान्वयन धीमा रहा। संघर्षों ने अधिकारों को उजागर किया।
संलग्न क्षेत्र	झारखंड, बंगाल, बिहार, उड़ीसा, और अन्य वन क्षेत्र।	झारखंड, उड़ीसा, नर्मदा घाटी, मध्य प्रदेश, और हिमालय क्षेत्र।
सरकारी कार्रवाइयाँ	ब्रिटिश शासन ने कठोर वन कानून लागू किए और जमींदारी व्यवस्था के तहत संसाधनों का शोषण किया।	वन अधिकार अधिनियम (2006) जैसे कानून बनाए गए; लेकिन क्रियान्वयन में कई चुनौतियाँ सामने आईं।
प्रमुख समस्याएँ	आदिवासी जंगलों से बेदखल, उच्च कर, बाहरी कब्जा और संसाधनों के शोषण।	विस्थापन, औद्योगिक परियोजनाओं के कारण प्राकृतिक संसाधनों की हानि, और कानूनी बाधाएँ।
संघर्ष की प्रेरणा	ब्रिटिश शासन और पारंपरिक अधिकारों के उल्लंघन के खिलाफ विद्रोह।	सामाजिक और सांस्कृतिक पहचान तथा संसाधनों की रक्षा के लिए कानूनी और सामाजिक संघर्ष।
लंबे समय का प्रभाव	आदिवासी संघर्षों ने स्वतंत्रता संग्राम और भूमि अधिकारों की महत्ता को स्थापित किया।	आदिवासी अधिकारों और पर्यावरणीय न्याय को मुख्यधारा में लाने में सहायता मिली; सतत विकास पर जोर दिया गया।

भारत के आदिवासी समुदायों के संघर्ष, चाहे वह औपनिवेशिक काल में हुआ हो या औपनिवेशिकोत्तर काल में, उनके पारंपरिक अधिकारों और प्राकृतिक संसाधनों की रक्षा के लिए थे। दोनों समयों में संघर्षों का उद्देश्य एक जैसा था—आदिवासी जीवन के लिए आवश्यक वन, भूमि और संसाधनों तक उनकी पहुँच को सुनिश्चित करना। हालांकि, इन संघर्षों की प्रकृति, कारण, स्वरूप, और परिणामों में काफी भिन्नताएँ भी थीं।

6.1 समानताएँ

i. **उद्देश्य और प्रेरणा:** दोनों कालों में संघर्षों का मूल उद्देश्य आदिवासी समुदायों के जंगलों और भूमि पर अधिकार की रक्षा करना था। आदिवासी समुदाय जंगलों को केवल संसाधनों के रूप में नहीं, बल्कि अपनी संस्कृति, पहचान और आजीविका के अभिन्न अंग के रूप में देखते थे। चाहे वह औपनिवेशिक शासन के कठोर वन कानून हों या आधुनिक औद्योगीकरण और विकास परियोजनाएँ, आदिवासियों ने हमेशा अपने अधिकारों की बहाली के लिए संगठित होकर विरोध किया।

ii. **आजीविका पर प्रभाव:** दोनों कालों में आदिवासियों की पारंपरिक आजीविका पर गहरा संकट आया। औपनिवेशिक काल में जमींदारी व्यवस्था और वन कानूनों ने उनके जंगलों से बेदखली को बढ़ावा दिया, जबकि औपनिवेशिकोत्तर काल में खनन, बांध परियोजनाओं, और औद्योगिकीकरण ने उन्हें विस्थापन का सामना करने पर मजबूर किया।

iii. **सामाजिक और सामुदायिक भागीदारी:** दोनों कालों में आदिवासी समुदायों ने सामूहिक रूप से संगठित होकर संघर्ष किए। इन आंदोलनों में स्थानीय नेताओं और सामाजिक संगठनों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। औपनिवेशिक काल में संघर्षों का नेतृत्व संतालों और कोलों जैसे जनजातीय नेताओं ने किया, जबकि औपनिवेशिकोत्तर काल में मेधा पाटकर और अन्य सामाजिक कार्यकर्ताओं ने आंदोलनों को दिशा दी।

iv. **वन अधिकारों की महत्ता:** दोनों समयों में यह स्पष्ट हुआ कि आदिवासियों के लिए वन अधिकार केवल आर्थिक दृष्टि से ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं। जंगल उनकी धार्मिक आस्थाओं, परंपराओं और सामुदायिक संरचनाओं का आधार हैं।

6.2 औपनिवेशिक और औपनिवेशिकोत्तर काल में जनजातीय संघर्षों का स्वरूप और अंतर

संघर्ष का स्वरूप

औपनिवेशिक काल के संघर्ष मुख्यतः हिंसक और सशस्त्र थे। संताल हूल (1855-56) और कोल विद्रोह (1831-32) जैसे आंदोलनों में आदिवासियों ने ब्रिटिश सेना और स्थानीय जमींदारों के खिलाफ हथियार उठाए। इसके विपरीत, औपनिवेशिकोत्तर काल के संघर्ष अधिक शांतिपूर्ण और संवैधानिक थे। नर्मदा बचाओ आंदोलन और कंधमाल संघर्ष जैसे आंदोलनों में सत्याग्रह, कानूनी लड़ाई और शांतिपूर्ण प्रदर्शन मुख्य हथियार बने।

- **कारण:** औपनिवेशिक काल में संघर्षों का मुख्य कारण ब्रिटिश शासन की कठोर नीतियाँ थीं, जैसे भारतीय वन अधिनियम (1865, 1878) और जमींदारी व्यवस्था, जिनके तहत जंगलों और जमीनों पर आदिवासियों का पारंपरिक अधिकार छीन लिया गया। औपनिवेशिकोत्तर काल में संघर्षों का कारण औद्योगिकीकरण, खनन परियोजनाएँ, और बांध निर्माण था, जिससे आदिवासी विस्थापन और संसाधनों के ह्रास का सामना कर रहे थे।

- **सरकारी प्रतिक्रियाएँ:** औपनिवेशिक काल में ब्रिटिश सरकार ने इन संघर्षों को कठोरता से कुचल दिया। सशस्त्र विद्रोहों को सैन्य बल से दबा दिया गया और विद्रोहियों को कठोर सजा दी गई। औपनिवेशिकोत्तर काल में सरकार ने कानूनी और नीतिगत उपायों का सहारा लिया। वन अधिकार अधिनियम (2006) जैसे कानून आदिवासियों के अधिकारों की बहाली के लिए बनाए गए, लेकिन इनका क्रियान्वयन धीमा और बाधाओं से भरा हुआ था।

- **प्रभाव और परिणाम:** औपनिवेशिक काल के संघर्षों का दीर्घकालिक प्रभाव कम था। अधिकांश विद्रोह दबा दिए गए और आदिवासी समुदायों को अधिक शोषण का सामना करना पड़ा। हालांकि, इन संघर्षों ने भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन को प्रेरणा दी और जनजातीय मुद्दों को उजागर किया। औपनिवेशिकोत्तर काल के संघर्षों ने कानूनों और नीतियों में बदलाव लाने में योगदान दिया। उदाहरण के लिए, नर्मदा बचाओ आंदोलन ने विस्थापन और पुनर्वास के सवालों को मुख्यधारा में लाया।

- **आधुनिक उपकरण और जागरूकता:** औपनिवेशिकोत्तर काल के संघर्षों में आदिवासियों ने आधुनिक कानूनी प्रक्रियाओं, मीडिया, और जन जागरूकता अभियानों का उपयोग किया। इसके विपरीत, औपनिवेशिक काल के संघर्ष पारंपरिक तरीकों पर आधारित थे और बाहरी समर्थन बहुत सीमित था।

6.3 निष्कर्ष

औपनिवेशिक और औपनिवेशिकोत्तर काल के जनजातीय संघर्ष, उनकी समानताओं और अंतर के बावजूद, आदिवासी समुदायों के अस्तित्व की लड़ाई को रेखांकित करते हैं। औपनिवेशिक काल में संघर्षों ने शोषण और अन्याय को उजागर किया, जबकि औपनिवेशिकोत्तर संघर्षों ने आदिवासी अधिकारों को कानूनी और सामाजिक पहचान दिलाई। ये संघर्ष इस बात का प्रमाण हैं कि आदिवासियों का जीवन उनके जंगलों, भूमि और संसाधनों से गहराई से जुड़ा हुआ है। भविष्य में सतत विकास और सामाजिक न्याय सुनिश्चित करने के लिए इन संघर्षों के सबक को समझना और लागू करना महत्वपूर्ण है।

अध्याय 7

झारखंड में जनजातीय वन संघर्षों का प्राथमिक डेटा विश्लेषण: सामाजिक, आर्थिक, ऐतिहासिक एवं नीतिगत प्रभावों का समग्र अध्ययन

झारखंड के जनजातीय समुदायों के लिए वन संसाधन न केवल आजीविका का स्रोत हैं, बल्कि उनकी संस्कृति, परंपरा, और सामाजिक संरचना का भी अभिन्न अंग हैं। औपनिवेशिक काल से लेकर वर्तमान समय तक, आदिवासी समुदायों ने अपने वन अधिकारों की रक्षा के लिए सतत संघर्ष किया है। वर्तमान अध्याय प्राथमिक डेटा के आधार पर इन संघर्षों का गहन विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इस अध्ययन का मुख्य उद्देश्य यह समझना है कि झारखंड के जनजातीय समुदाय आज भी वनों पर कितने निर्भर हैं, वन संसाधनों के उपयोग में उन्हें किन बाधाओं का सामना करना पड़ता है, और सरकारी नीतियाँ उनके अधिकारों को किस प्रकार प्रभावित करती हैं। सर्वेक्षण के आँकड़ों से स्पष्ट होता है कि झारखंड के अधिकांश आदिवासी परिवार अपनी आजीविका के लिए वनों पर निर्भर हैं, परंतु कई समुदायों को वन संसाधनों तक पहुँचने में सरकारी नीतियों और प्रशासनिक प्रतिबंधों का सामना करना पड़ता है। अध्याय में प्रस्तुत आंकड़े यह दर्शाते हैं कि वन अधिकारों को लेकर संघर्ष आज भी प्रासंगिक हैं। नक्सलवाद, औद्योगिकीकरण, और सरकारी नीतियों के प्रभाव ने जनजातीय जीवन को कई तरह से प्रभावित किया है। औपनिवेशिक काल में अंग्रेजों द्वारा लागू किए गए कठोर वन कानूनों ने आदिवासियों की पारंपरिक आजीविका को बाधित किया था, जबकि स्वतंत्रता के बाद भी खनन और औद्योगिकीकरण की बढ़ती गतिविधियों ने उनकी वन संसाधनों पर निर्भरता को चुनौती दी है।

वन अधिकार अधिनियम, 2005 को अधिकांश उत्तरदाताओं ने सकारात्मक कदम माना, लेकिन वन संरक्षण अधिनियम, 2022 को लेकर मिश्रित प्रतिक्रियाएँ देखने को मिलीं। कुछ लोगों को लगता है कि यह उनके अधिकारों के लिए खतरा है, जबकि कुछ इसे वन संरक्षण की दिशा में एक आवश्यक कदम मानते हैं। सर्वेक्षण के निष्कर्ष यह संकेत देते हैं कि वन अधिकारों को संरक्षित करने के लिए सरकार को नीतिगत सुधारों की आवश्यकता है। जनजातीय संघर्षों के ऐतिहासिक और वर्तमान संदर्भों का तुलनात्मक अध्ययन यह दर्शाता है कि संघर्षों का मूल उद्देश्य हमेशा से आदिवासी समुदायों के भूमि और जंगलों पर अधिकार की रक्षा करना रहा है। यह

अध्याय न केवल आँकड़ों के विश्लेषण द्वारा वन संसाधनों और आदिवासी संघर्षों की जटिलता को उजागर करता है, बल्कि यह नीति निर्माताओं, शोधकर्ताओं और समाजशास्त्रियों के लिए एक महत्वपूर्ण संदर्भ भी प्रदान करता है, ताकि वे इस विषय पर एक व्यापक दृष्टिकोण विकसित कर सकें।

1. क्या आपका परिवार आजीविका के लिए वनों पर निर्भर है ?	**उत्तरदाताओं की संख्या"**
हां	119
नहीं	6
कभी-कभी	5

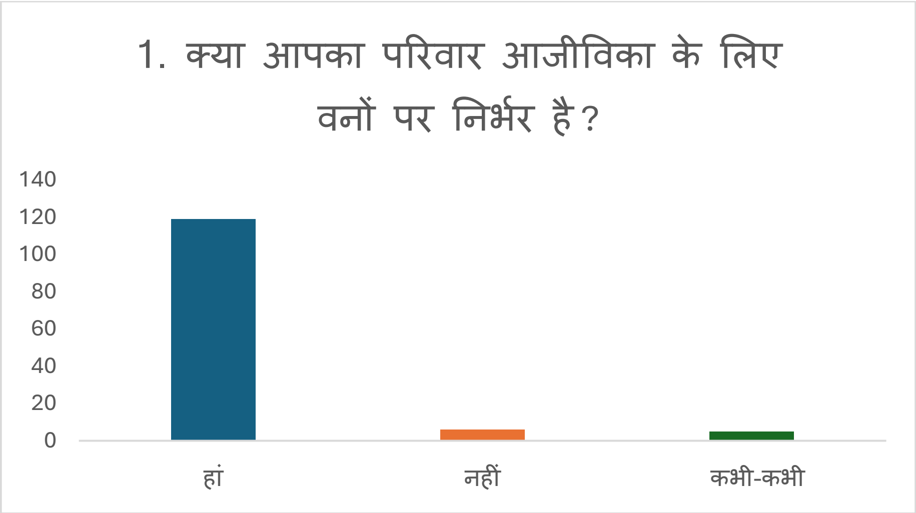

चित्र 1: वनों पर आजीविका की निर्भरता से संबंधित उत्तरदाताओं की राय

इस सर्वेक्षण के अनुसार, अधिकांश उत्तरदाता (119) यह स्वीकार करते हैं कि उनका परिवार आजीविका के लिए वनों पर निर्भर है। यह दर्शाता है कि वनों के संसाधन उनके जीवनयापन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, संभवतः ईंधन, चारा, लकड़ी, या गैर-काष्ठ वन उत्पादों (NTFPs) के रूप में। केवल 6 उत्तरदाता बताते हैं कि वे वनों पर निर्भर नहीं हैं, जिससे यह संकेत मिलता है कि उनके पास वैकल्पिक आय स्रोत हो सकते हैं, जैसे कृषि, सरकारी नौकरियां, या अन्य व्यवसाय। वहीं, 5 उत्तरदाताओं ने "कभी-कभी" उत्तर दिया, जो यह दर्शाता है कि वे आंशिक

रूप से वन संसाधनों का उपयोग करते हैं, शायद केवल विशेष अवसरों या आपात स्थितियों में। यह डेटा ग्रामीण और आदिवासी समुदायों में वनों की महत्वपूर्ण भूमिका को उजागर करता है और यह संकेत देता है कि वन संरक्षण और प्रबंधन नीतियों को उनकी आजीविका आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए बनाया जाना चाहिए, ताकि सतत विकास सुनिश्चित हो सके।

2. क्या वनों के साधनों के प्रयोग आप स्वतंत्र रूप से कर रहें हैं ?	**उत्तरदाताओं की संख्या**
हां	119
नहीं	6
कभी-कभी	5

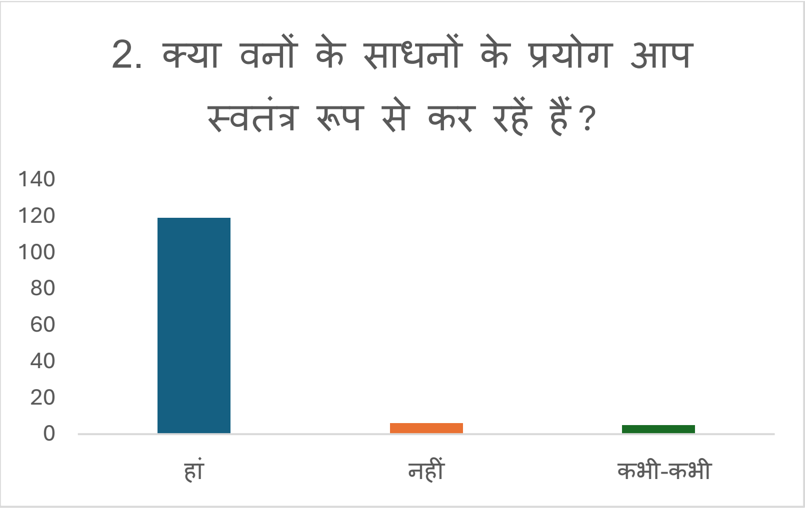

चित्र2: वन संसाधनों के स्वतंत्र उपयोग पर उत्तरदाताओं की प्रतिक्रिया

यह सर्वेक्षण वन संसाधनों के स्वतंत्र उपयोग को लेकर उत्तरदाताओं की राय को दर्शाता है। कुल 130 उत्तरदाताओं में से 119 (लगभग 91.5%) ने स्वीकार किया कि वे स्वतंत्र रूप से वनों के संसाधनों का उपयोग कर रहे हैं। इसके विपरीत, केवल 6 (4.6%) उत्तरदाताओं ने कहा कि वे ऐसा नहीं कर पा रहे हैं, जबकि 5 (3.8%) ने बताया कि वे कभी-कभी ऐसा कर पाते हैं। यह आंकड़े दर्शाते हैं कि अधिकांश लोग वनों के संसाधनों का उपयोग स्वतंत्र रूप से कर रहे हैं, जिससे यह संकेत मिलता है कि या तो उन्हें इन संसाधनों पर पर्याप्त अधिकार प्राप्त हैं या वे बिना किसी प्रतिबंध के इनका उपयोग कर रहे हैं। हालांकि, कुछ लोगों का "नहीं" या "कभी-कभी"

उत्तर देना यह दर्शाता है कि कुछ वर्गों को इन संसाधनों की पहुंच में बाधाओं का सामना करना पड़ता है। यह निष्कर्ष नीति निर्माताओं और प्रशासन के लिए महत्वपूर्ण है ताकि वे संसाधनों के न्यायसंगत वितरण और उनके सतत उपयोग पर ध्यान केंद्रित कर सकें।

3. क्या वन संसाधनों पर पहुंचने के लिए आपको सरकारी नीतियों के कारन परेशानी होती है?	**उत्तरदाताओं की संख्या"**
हां	39
नहीं	79
कभी-कभी	12

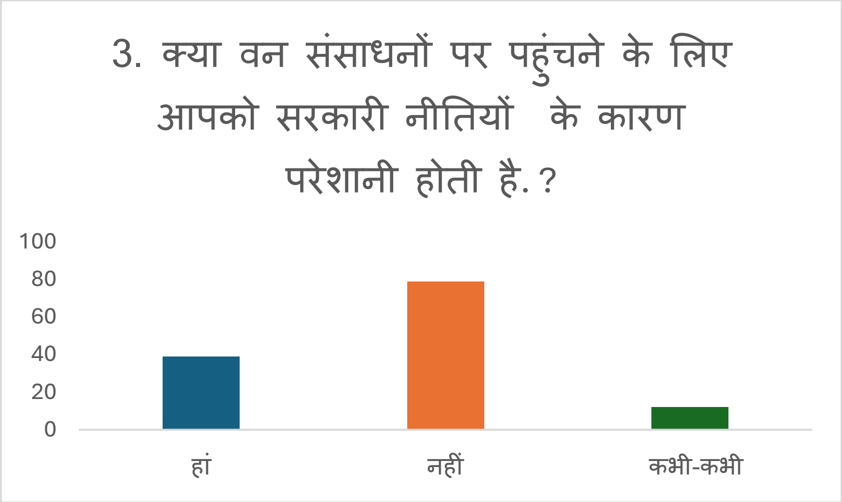

चित्र 3: सरकारी नीतियों के कारण वन संसाधनों तक पहुँच में बाधाओं पर उत्तरदाताओं की राय

इस प्रश्न के उत्तर से यह स्पष्ट होता है कि अधिकांश उत्तरदाताओं को सरकारी नीतियों के कारण वन संसाधनों तक पहुँचने में कोई परेशानी नहीं होती। कुल 79 लोगों (अधिकतम उत्तरदाता) ने "नहीं" उत्तर दिया, जो दर्शाता है कि वे सरकारी नीतियों से संतुष्ट हैं या उन्हें कोई बाधा महसूस नहीं होती। दूसरी ओर, 39 उत्तरदाताओं ने "हां" उत्तर दिया, जिससे संकेत मिलता है कि एक महत्वपूर्ण संख्या में लोग सरकारी नीतियों को वन संसाधनों तक पहुँचने में बाधा मानते हैं। वहीं,

12 उत्तरदाताओं ने "कभी-कभी" उत्तर दिया, जो बताता है कि कुछ लोगों को समय-समय पर नीतिगत समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सरकारी नीतियाँ कुछ समुदायों के लिए बाधक हो सकती हैं, जबकि अधिकांश लोगों को कोई कठिनाई नहीं होती। यह अध्ययन वन प्रबंधन और नीतियों में सुधार की संभावनाओं को समझने में मदद कर सकता है।

4. क्या जनजातीय संघर्ष वन संसाधनों पर पहुंच कायम करने के लिए कारगर है ?	**उत्तरदाताओं की संख्या"**
हां	80
नहीं	24
कभी-कभी	26

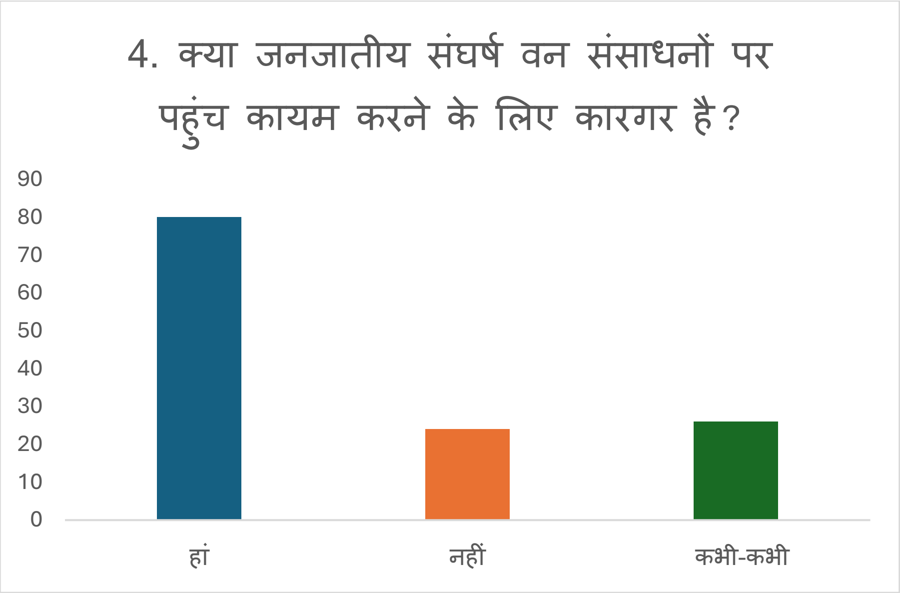

चित्र 4: जनजातीय संघर्षों की वन संसाधनों तक पहुँच स्थापित करने में प्रभावशीलता पर उत्तरदाताओं की राय

जनजातीय संघर्ष और वन संसाधनों पर अधिकार प्राप्ति की प्रभावशीलता का मूल्यांकन करने के लिए किए गए सर्वेक्षण के अनुसार, कुल 130 उत्तरदाताओं में से 80 (61.5%) ने माना कि जनजातीय संघर्ष वन संसाधनों तक पहुंच कायम करने में कारगर है। वहीं, 24 (18.5%)

उत्तरदाताओं ने इसे प्रभावी नहीं माना, जबकि 26 (20%) ने उत्तर दिया कि यह कभी-कभी सफल होता है। ये आंकड़े दर्शाते हैं कि अधिकांश लोगों का मानना है कि जनजातीय संघर्षों ने ऐतिहासिक रूप से वन संसाधनों की सुरक्षा और उनकी पहुंच सुनिश्चित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। हालांकि, कुछ उत्तरदाताओं का मानना है कि ये संघर्ष हमेशा प्रभावी नहीं होते, संभवतः प्रशासनिक प्रतिबंधों, कानूनी अड़चनों या अन्य सामाजिक-राजनीतिक कारणों से। यह इंगित करता है कि वन संसाधनों पर जनजातीय अधिकार सुनिश्चित करने के लिए संघर्षों के साथ नीतिगत सुधार और सरकारी सहयोग भी आवश्यक है।

**5. झारखंड में खनन और उद्योगों के लिए वनो का दोहन जारी है	क्या आप इसे विकास के लिए आवश्यक समझते हैं ?**	**उत्तरदाताओं की संख्या"**
हां	104
नहीं	13
कभी-कभी	13

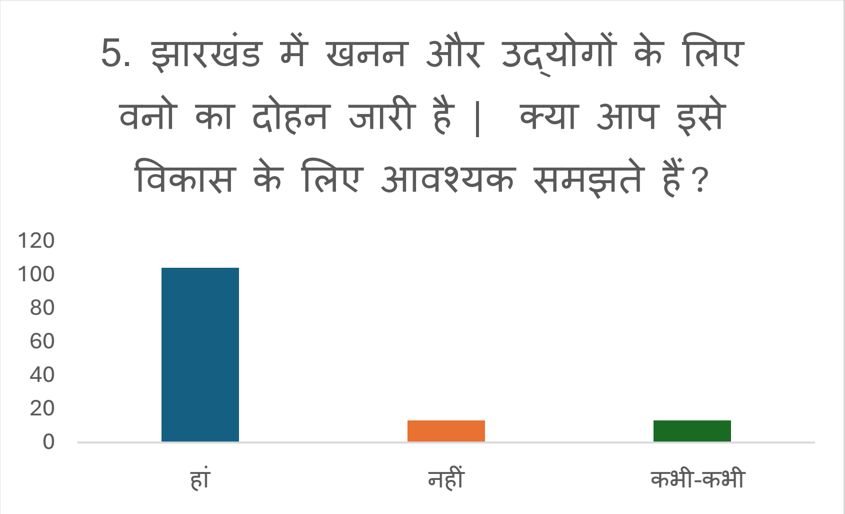

चित्र5: खनन और औद्योगिकीकरण के लिए वनों के दोहन को विकास के आवश्यक साधन के रूप में देखने पर उत्तरदाताओं की राय

खनन और उद्योगों के लिए वनों के दोहन को लेकर झारखंड में लोगों की राय विभाजित है। प्राप्त आंकड़ों के अनुसार, 104 उत्तरदाताओं (अधिकांश) ने इसे विकास के लिए आवश्यक माना, जबकि 13 उत्तरदाताओं ने असहमति व्यक्त की और 13 ने बीच का रुख अपनाते हुए "कभी-कभी" उत्तर दिया। इन आंकड़ों से संकेत मिलता है कि झारखंड में खनन और उद्योगों को विकास का एक महत्वपूर्ण कारक माना जाता है, संभवतः रोजगार, आर्थिक समृद्धि और आधारभूत संरचना के विस्तार के कारण। हालांकि, कुछ उत्तरदाता वनों के अंधाधुंध दोहन के संभावित पर्यावरणीय प्रभावों को लेकर चिंतित हैं, जैसे जैव विविधता की हानि, जलवायु परिवर्तन और जनजातीय समुदायों के पारंपरिक जीवन पर प्रभाव। "कभी-कभी" उत्तर देने वालों की संख्या यह दर्शाती है कि कुछ लोग संतुलित दृष्टिकोण रखते हैं, जहाँ विकास और पर्यावरण संरक्षण के बीच समन्वय आवश्यक है। निष्कर्षतः, सतत विकास मॉडल अपनाकर वनों की सुरक्षा और औद्योगिक प्रगति के बीच संतुलन बनाना महत्वपूर्ण होगा।

6. औपनिवेशिक काल में अंग्रेजों के हस्तक्षेप से जनजातीय समुदायों की आजीविका और पर्यावरण संतुलन दोनों को नुकसान पहुंचा है ?	**उत्तरदाताओं की संख्या"**
हां	38
नहीं	38
कभी-कभी	54

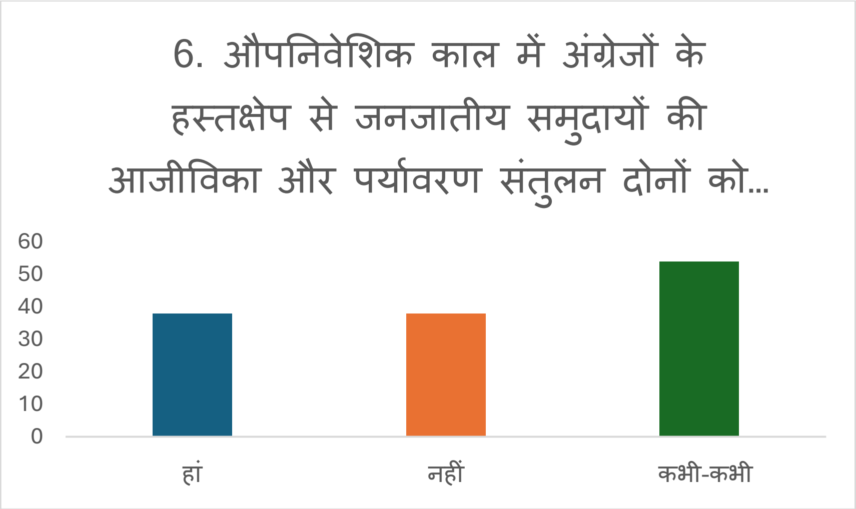

चित्र 6: औपनिवेशिक हस्तक्षेप के कारण जनजातीय आजीविका और पर्यावरणीय संतुलन को हुए नुकसान पर उत्तरदाताओं की राय

आंकड़े उत्तरदाताओं के बीच ब्रिटिश उपनिवेशी हस्तक्षेप के प्रभाव को लेकर विभाजित दृष्टिकोण को दर्शाते हैं। 38 उत्तरदाताओं का मानना है कि औपनिवेशिक नीतियों ने जनजातीय आजीविका और पर्यावरण संतुलन को नुकसान पहुँचाया, जबकि 38 अन्य उत्तरदाताओं को यह हानिकारक नहीं लगा। हालाँकि, 54 उत्तरदाताओं का मानना है कि इसका प्रभाव परिस्थितिजन्य था, जिससे कुछ पहलू प्रभावित हुए, जबकि अन्य अप्रभावित रहे। यह दर्शाता है कि कई लोग ब्रिटिश नीतियों के कारण हुए व्यवधान—जैसे भूमि अतिक्रमण, वनों की कटाई, और पारंपरिक वन उपयोग पर प्रतिबंध—को पहचानते हैं, जबकि कुछ इसे तटस्थ या कुछ संदर्भों में लाभदायक मानते हैं, संभवतः बुनियादी ढांचे के विकास या आर्थिक परिवर्तनों के कारण। अधिकांश उत्तरदाताओं का "कभी-कभी" की ओर झुकाव यह दर्शाता है कि प्रभाव की तीव्रता समय और क्षेत्र के अनुसार अलग-अलग रही, जिससे यह एक जटिल और बहुआयामी विषय बन जाता है।

7. दोनों कालों के संघर्षों का मूल उद्देश्य आदिवासी समुदायों के जंगलों और भूमि पर अधिकार की रक्षा करना था ?	**उत्तरदाताओं की संख्या"**
हां	79
नहीं	38
कभी-कभी	13

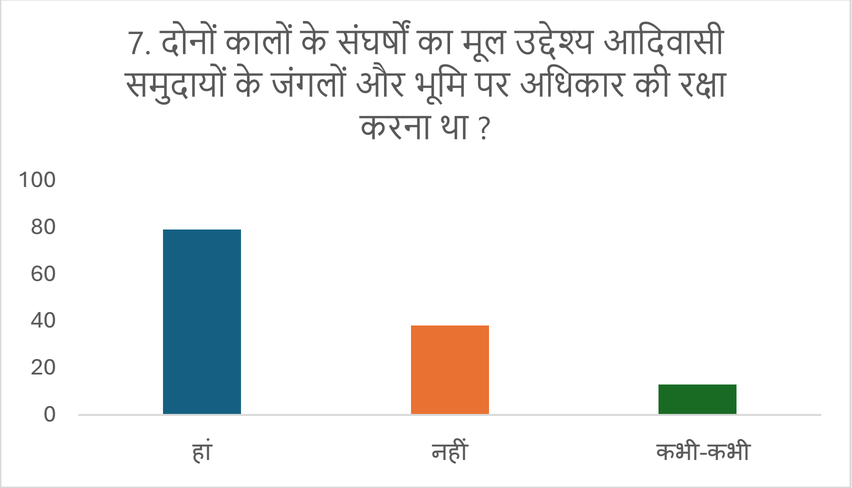

चित्र7: ऐतिहासिक और समकालीन संघर्षों के मूल उद्देश्य—जंगल और भूमि पर अधिकार की रक्षा—पर उत्तरदाताओं की राय

आंकड़े दर्शाते हैं कि 79 उत्तरदाताओं का मानना है कि औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक काल में संघर्षों का मुख्य उद्देश्य जनजातीय समुदायों के भूमि और वन अधिकारों की रक्षा करना था। यह इंगित करता है कि उत्तरदाताओं में आदिवासी भूमि अधिकारों और बाहरी नियंत्रण के खिलाफ उनके संघर्षों को लेकर ऐतिहासिक और समकालीन जागरूकता मौजूद है। हालाँकि, 38 उत्तरदाताओं ने असहमति व्यक्त की, जिससे यह संकेत मिलता है कि संघर्षों की प्रकृति, वैकल्पिक उद्देश्यों, या राजनीतिक और आर्थिक कारकों को लेकर विभिन्न दृष्टिकोण मौजूद हैं। वहीं, 13 उत्तरदाताओं का "कभी-कभी" उत्तर यह दर्शाता है कि, भले ही भूमि और वन अधिकार संघर्षों के केंद्र में रहे हों, अन्य सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक मुद्दों ने भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई होगी। कुल मिलाकर, यह डेटा जनजातीय पहचान और भूमि अधिकारों के गहरे संबंध को रेखांकित करता है, जो झारखंड में पारंपरिक क्षेत्रों पर अतिक्रमण के खिलाफ आदिवासी प्रतिरोध की ऐतिहासिक निरंतरता को दर्शाता है।

8. क्या वन अधिकार अधिनियम, 2005 ने आदिवासियों को उनके पारंपरिक वन अधिकारों पर अधिकार प्रदान किया था?	**उत्तरदाताओं की संख्या"**
हां	106
नहीं	19

कभी-कभी	5

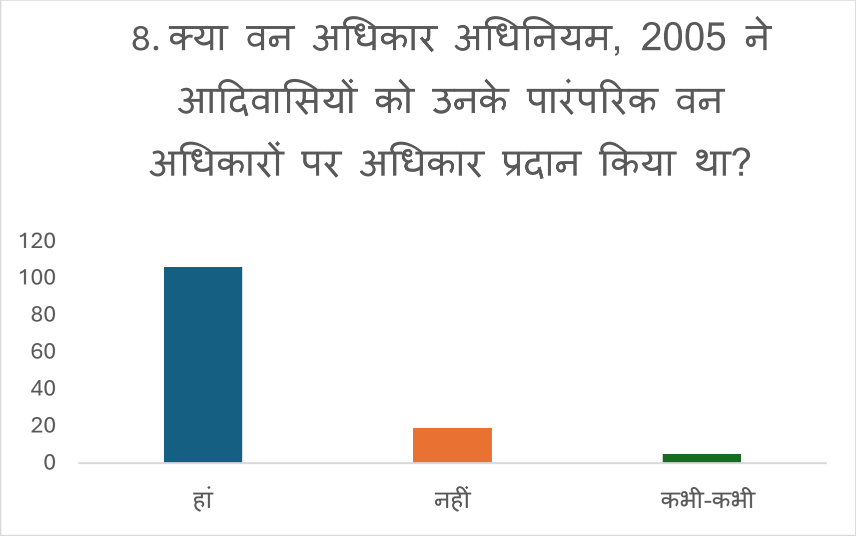

चित्र8: वन अधिकार अधिनियम, 2005 द्वारा पारंपरिक वन अधिकारों की मान्यता पर उत्तरदाताओं की राय

वन अधिकार अधिनियम, 2005 का उद्देश्य आदिवासियों और अन्य परंपरागत वनवासियों के पारंपरिक वन अधिकारों की रक्षा करना था। उपरोक्त आंकड़ों के अनुसार, 106 उत्तरदाताओं (बहुमत) ने सहमति व्यक्त की कि यह अधिनियम उनके अधिकारों की रक्षा करने में सहायक रहा है। वहीं, 19 उत्तरदाताओं ने असहमति जताई, जिससे संकेत मिलता है कि कुछ समुदायों को अभी भी अपने पारंपरिक अधिकार प्राप्त करने में कठिनाइयाँ हो रही हैं। इसके अलावा, 5 उत्तरदाताओं ने "कभी-कभी" विकल्प चुना, जो यह दर्शाता है कि अधिनियम का प्रभाव कुछ परिस्थितियों में सुसंगत नहीं रहा है। यह आँकड़े यह भी संकेत देते हैं कि अधिनियम ने अधिकांश आदिवासियों को कानूनी रूप से सशक्त किया है, लेकिन इसकी प्रभावशीलता क्षेत्रीय प्रशासन और क्रियान्वयन की स्थिति पर निर्भर करती है। कुल मिलाकर, यह अधिनियम आदिवासी समुदायों के लिए महत्वपूर्ण रहा है, लेकिन पूर्ण प्रभावशीलता के लिए बेहतर क्रियान्वयन की आवश्यकता है।

9. क्या वन संरक्षण अधिनियम, २०२२ आदिवासियों और वनाधिकार कानून के लिए खतरा है ?	उत्तरदाताओं की संख्या"
हां	56
नहीं	48
कभी-कभी	26

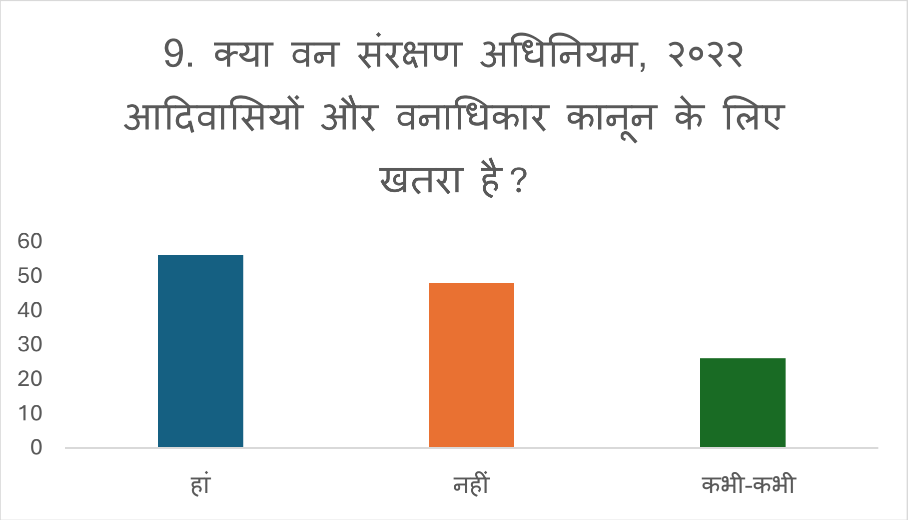

चित्र9: वन संरक्षण अधिनियम, 2022 को आदिवासी और वनाधिकार कानूनों के लिए खतरे के रूप में देखने पर उत्तरदाताओं की राय

वन संरक्षण अधिनियम, 2022 के प्रभाव पर किए गए सर्वेक्षण के अनुसार, कुल 130 उत्तरदाताओं में से 56 (लगभग 43%) लोगों का मानना है कि यह अधिनियम आदिवासियों और वनाधिकार कानून के लिए खतरा है, जबकि 48 (37%) लोगों ने इससे असहमति जताई। वहीं, 26 (20%) उत्तरदाताओं का मानना है कि यह अधिनियम कभी-कभी खतरा पैदा कर सकता है। यह डेटा दर्शाता है कि आदिवासी समुदायों और वन अधिकारों को लेकर मिश्रित प्रतिक्रियाएँ हैं। कुछ लोगों को आशंका है कि यह अधिनियम वन संसाधनों पर उनके पारंपरिक अधिकारों को सीमित कर सकता है, जिससे आजीविका पर नकारात्मक प्रभाव पड़ सकता है। दूसरी ओर, कुछ का मानना है कि यह संरक्षण के दृष्टिकोण से आवश्यक है और आदिवासियों के अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालेगा। "कभी-कभी" उत्तर देने वालों का दृष्टिकोण दर्शाता है कि अधिनियम के प्रभाव संदर्भ-विशिष्ट हो सकते हैं और इसके कार्यान्वयन पर निर्भर करते हैं।

10. क्या नक्सलवाद के प्रभाव के कारण जनजातियों के वन संसाधनों पर निर्भरता में कमी आयी है?	उत्तरदाताओं की संख्या"
हां	69
नहीं	31
कभी-कभी	30

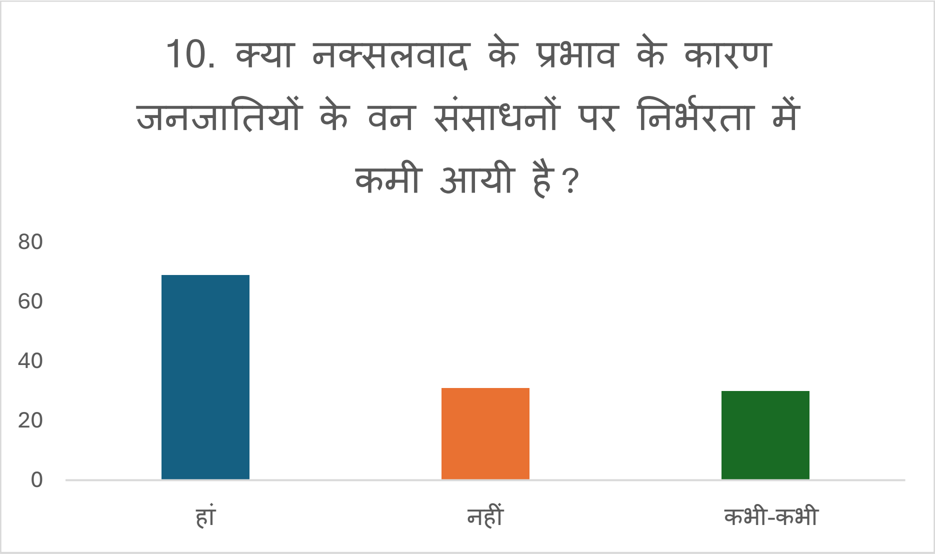

चित्र 10: नक्सलवाद के प्रभाव से वन संसाधनों पर जनजातीय निर्भरता में कमी पर उत्तरदाताओं की राय

आंकड़े दर्शाते हैं कि 69% उत्तरदाताओं का मानना है कि नक्सलवाद ने जनजातियों की वन संसाधनों पर निर्भरता को कम कर दिया है, जबकि 31% इसे कोई महत्वपूर्ण बदलाव नहीं मानते और 30% का मानना है कि इसका प्रभाव केवल कभी-कभी महसूस होता है। यह संकेत देता है कि उग्रवाद संबंधी गतिविधियाँ, सरकारी हस्तक्षेप, या सुरक्षा संबंधी चिंताओं के कारण पारंपरिक जनजातीय वन संसाधनों तक पहुँच बाधित हुई है। बढ़ती सैन्य उपस्थिति, प्रतिबंध और हिंसा का भय कुछ समुदायों को वैकल्पिक आजीविका की ओर प्रेरित कर सकता है। हालाँकि, 31% उत्तरदाताओं का कोई बदलाव न मानना यह दर्शाता है कि कुछ जनजातीय समूहों ने इन परिस्थितियों के अनुरूप स्वयं को ढाल लिया है या अब भी जंगलों पर निर्भर हैं। 30% का "कभी-

कभी" प्रभाव यह इंगित करता है कि निर्भरता क्षेत्रीय स्थिरता और वन तक पहुँच पर निर्भर करती है। इन मुद्दों के समाधान के लिए सुरक्षा, विकास और सतत वन प्रबंधन के बीच संतुलित दृष्टिकोण आवश्यक है।

अध्याय 8
निष्कर्ष

झारखंड में जनजातीय समुदायों का वनों से संबंध केवल एक आर्थिक संसाधन तक सीमित नहीं रहा है, बल्कि यह संबंध उनकी सांस्कृतिक विरासत, सामाजिक संरचना, और ऐतिहासिक अस्तित्व का मूल आधार रहा है। इस अध्ययन के माध्यम से यह स्पष्ट रूप से सामने आया है कि भले ही समय बदला हो—औपनिवेशिक शासन से लेकर उत्तर-औपनिवेशिक युग तक—वन संसाधनों पर जनजातीय निर्भरता में कोई मौलिक बदलाव नहीं आया है। आदिवासी समुदाय आज भी वनों से अपने जीवन यापन के लिए आवश्यक वस्तुएँ जैसे—ईंधन, चारा, लकड़ी, औषधीय पौधे और अन्य गैर-काष्ठ उत्पाद प्राप्त करते हैं। प्राथमिक सर्वेक्षण के आंकड़े यह दर्शाते हैं कि अधिकांश आदिवासी परिवार आज भी वनों पर पूरी तरह से या आंशिक रूप से निर्भर हैं। हालांकि, यह भी सामने आया कि उन्हें कई बार सरकारी नीतियों, प्रशासनिक अवरोधों, और विकास परियोजनाओं के चलते संसाधनों तक पहुँच में बाधाओं का सामना करना पड़ता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान नीतियाँ या तो जनजातीय हितों को पर्याप्त रूप से प्रतिबिंबित नहीं करतीं या फिर उनका क्रियान्वयन ज़मीनी स्तर पर प्रभावी ढंग से नहीं हो पा रहा है।

अध्ययन यह भी इंगित करता है कि औपनिवेशिक काल में लागू की गई कठोर वन नीतियों और भूमि अधिग्रहण प्रक्रियाओं ने आदिवासी आजीविका और पर्यावरणीय संतुलन को गहरे रूप से प्रभावित किया। दुर्भाग्यवश, स्वतंत्रता के पश्चात भी नीति निर्माण की प्रवृत्ति में औपनिवेशिक सोच की झलक बनी रही। खनन, औद्योगिकीकरण और संरक्षित क्षेत्रों की स्थापना जैसे प्रयासों ने आदिवासी समुदायों को उनके पारंपरिक वनों से वंचित किया और उनके सामाजिक-आर्थिक ढांचे को बाधित किया। वन अधिकार अधिनियम, 2005 को अधिकांश उत्तरदाताओं ने एक सकारात्मक कदम माना, जिसने आदिवासी समुदायों को कानूनी संरक्षण और संसाधनों पर अधिकार की मान्यता दी। इसके विपरीत, वन संरक्षण अधिनियम, 2022 को लेकर चिंताएं भी व्यक्त की गईं कि यह अधिनियम एक ओर जहां वनों के संरक्षण की बात करता है, वहीं दूसरी ओर पारंपरिक अधिकारों को सीमित कर सकता है। जनजातीय संघर्षों की बात करें तो इतिहास गवाह है कि चाहे वह बिरसा मुंडा का उलगुलान रहा हो या हाल के वर्षों में पत्थलगड़ी आंदोलन—इन सभी संघर्षों की मूल भावना जल, जंगल और जमीन की रक्षा रही है। यह अध्ययन यह दर्शाता

है कि संघर्ष आज भी प्रासंगिक हैं और जनजातीय चेतना की जीवंत अभिव्यक्ति हैं। अधिकांश उत्तरदाताओं ने इन संघर्षों को वन अधिकारों की प्राप्ति के लिए प्रभावी माना, हालांकि कुछ लोगों ने इसके सीमित प्रभाव और नीतिगत सहयोग की आवश्यकता को भी रेखांकित किया। नक्सलवाद जैसे कारकों ने भी वनों तक पहुँच और संसाधनों के उपयोग को प्रभावित किया है। जहाँ कुछ लोगों ने इसे आदिवासी जीवन के लिए बाधक माना, वहीं कुछ ने इसे परिस्थितिजन्य करार दिया। यह बताता है कि वन संसाधनों की सुरक्षा, अधिकारों की बहाली और नीतिगत हस्तक्षेप के प्रयासों को एक संवेदनशील और क्षेत्रीय दृष्टिकोण से देखा जाना चाहिए।

अंततः, यह निष्कर्ष निकलता है कि झारखंड में जनजातीय वन संघर्ष केवल एक विरोध की प्रक्रिया नहीं है, बल्कि यह अपनी अस्मिता, आजीविका और सांस्कृतिक अस्तित्व की रक्षा का एक माध्यम है। यह अध्याय नीति-निर्माताओं, शोधकर्ताओं और सामाजिक कार्यकर्ताओं के लिए एक सशक्त दस्तावेज है, जो दर्शाता है कि आदिवासी हितों की रक्षा केवल कानूनी उपायों से नहीं, बल्कि पारदर्शी, सहभागितापूर्ण और संवेदनशील शासन प्रणाली से ही संभव है। जब तक आदिवासियों को उनके पारंपरिक अधिकारों के साथ-साथ सम्मान और निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया में भागीदारी नहीं दी जाती, तब तक वन संसाधनों का न्यायसंगत और सतत उपयोग एक दूर की कौड़ी बना रहेगा। अतः अब समय आ गया है कि संघर्षों की आवाज़ को विकास के विमर्श में एक सम्मानित स्थान दिया जाए, और नीतियाँ केवल 'विकास' नहीं, बल्कि 'न्यायपूर्ण विकास' की दिशा में आगे बढ़ें।

संदर्भ

1. एझाकुनेल , ए. (2000). भारत में आदिवासी और संयुक्त वन प्रबंधन: झारखंड का एक केस स्टडी: भाग-II. *प्रबंधन और श्रम अध्ययन*, *25* (1), 5-20.
2. रॉबिन्स, पी. (2000). जानने की व्यावहारिक राजनीति: राज्य पर्यावरण ज्ञान और स्थानीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था। *आर्थिक भूगोल* , *76* (2), 126-144।
3. सुंदर, एन. (2000). संयुक्त वन प्रबंधन में ' संयुक्त' को खोलना। *विकास और परिवर्तन*, *31* (1), 255-279.
4. यदामा , जी., और डेवीस-बॉयड, एम. (2001) । भारत के आंध्र प्रदेश के आदिवासी क्षेत्रों में वनों का सह-प्रबंधन: सामाजिक पूंजी के निर्माण और विनाश का एक अध्ययन। *सहभागी प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन में विश्लेषणात्मक मुद्दों में* (पृष्ठ 90-107) । लंदन: पैल्ग्रेव मैकमिलन यूके।
5. रंगन, एच., और लेन, एम.बी. (2001) । स्वदेशी लोग और वन प्रबंधन: ऑस्ट्रेलिया और भारत में संस्थागत दृष्टिकोणों का तुलनात्मक विश्लेषण। *सोसायटी और प्राकृतिक संसाधन* , *14* (2), 145-160।
6. जॉनसन, सी., और फ़ोर्सिथ, टी. (2002) । राज्य की नज़र में: थाईलैंड में वन संरक्षण के लिए "अधिकार-आधारित दृष्टिकोण" पर बातचीत करना। *विश्व विकास* , *30* (9), 1591-1605।
7. मैकएवॉय, एल. (2002). अमेरिकी भारतीय, स्थान अर्थ और पुराना/नया पश्चिम. *जर्नल ऑफ लीजर रिसर्च* , *34* (4), 383-396.
8. ओबिरी, जे.ए., और लॉज़, एम.जे. (2002) । पूर्वी केप प्रांत में तटीय-वन उपयोगकर्ताओं का नई दक्षिण अफ़्रीकी वन नीतियों से उत्पन्न प्रबंधन विकल्पों के प्रति दृष्टिकोण। *पर्यावरण संरक्षण* , *29* (4), 519-529।
9. वांडरगेस्ट, पी. (2003). थाई वन राजनीति में नस्लभेद और नागरिकता. *समाज और प्राकृतिक संसाधन* , *16* (1), 19-37.
10. ट्रॉप, जे. (2003). विस्थापित लोग, प्रतिस्थापित कथाएँ: त्सोलो जिले, ट्रांसकेई में वन संघर्ष और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य । *जर्नल ऑफ़ साउथर्न अफ़्रीकन स्टडीज़* , *29* (1), 207-233.
11. व्हाइटहेड, जे. (2003). नर्मदा घाटी और उसके बाहर स्थान, जगह और आदिम संचयन. *आर्थिक और राजनीतिक साप्ताहिक* , 4224-4230.
12. मेहता, ए.के., और शाह, ए. (2003). भारत में दीर्घकालिक गरीबी: घटना, कारण और नीतियाँ. *विश्व विकास* , *31* (3), 491-511.
13. पंडित, बी.एच., और थापा, जी.बी. (2004)। नेपाल के पहाड़ों में विभिन्न सामान्य वन संसाधन प्रबंधन प्रणालियों के तहत गरीबी और संसाधन क्षरण। *समाज और प्राकृतिक संसाधन* , *17* (1), 1-16।

14. गुप्ते, एम. (2004). लिंग आधारित वातावरण में भागीदारी: भारत में सामुदायिक वानिकी का मामला। *मानव पारिस्थितिकी*, *32*, 365-382.
15. वीरा, बी. (2005). हरदा अनुभव का विखंडन: नौकरशाही भागीदारी की सीमाएँ. *आर्थिक और राजनीतिक साप्ताहिक*, 5068-5075.
16. स्वातुक , एल.ए. (2005)। "प्रोजेक्ट" से "संदर्भ" तक: बोत्सवाना में समुदाय आधारित प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन। *वैश्विक पर्यावरण राजनीति*, *5* (3), 95-124।
17. ज़र्चर, एस. (2005). थाईलैंड में सामुदायिक वन नीति में सार्वजनिक भागीदारी: दलालों के रूप में शिक्षाविदों का प्रभाव। *भूगोल टिड्सक्रिफ्ट - डेनिश जर्नल ऑफ ज्योग्राफी*, *105* (1), 77-88।
18. राव, एन. (2005). रिश्तेदारी के मामले: झारखंड के संताल परगना में महिलाओं के भूमि दावे। *जर्नल ऑफ द रॉयल एंथ्रोपोलॉजिकल इंस्टीट्यूट*, *11* (4), 725-746।
19. दामोदरन, ए. (2006)। केरल, भारत में आदिवासी, वन और संसाधन संघर्ष: नीति परिवर्तन की यथास्थिति। *ऑक्सफोर्ड डेवलपमेंट स्टडीज*, *34* (3), 357-371।
20. सेन, ए., और लालह्रीतपुई , ई. (2006)। अनुसूचित जनजाति (वन अधिकारों की मान्यता) विधेयक: नृविज्ञान से एक दृष्टिकोण और संवाद का आह्वान। *आर्थिक और राजनीतिक साप्ताहिक*, 4205-4210।
21. क्रूकर, आर.ए. (2006) । उत्तरी थाईलैंड में पारिस्थितिकी हाशिए पर और पहाड़ी जनजाति सुरक्षा। *भौगोलिक बुलेटिन*, *48* (1), 2।
22. सरवनन, वी. (2006) । मद्रास प्रेसीडेंसी के आदिवासी क्षेत्रों में औपनिवेशिक कृषि नीतियाँ: 1872-1947। *साउथ एशिया रिसर्च*, *26* (1), 63-85।
23. रसूल, जी. (2007). बांग्लादेश के चटगाँव पहाड़ी इलाकों में वन कॉमन के क्षरण की राजनीतिक पारिस्थितिकी. *पर्यावरण संरक्षण*, *34* (2), 153-163.
24. शाह, ए. (2007). स्वदेशीता का स्याह पक्ष?: भारत में स्वदेशी लोग, अधिकार और विकास. *इतिहास कम्पास*, *5* (6), 1806-1832.
25. मरे ली, टी. (2007) । संयोजन और सामुदायिक वन प्रबंधन की प्रथाएँ। *अर्थव्यवस्था और समाज*, *36* (2), 263-293।
26. नॉरगार्ड, के.एम. (2007) । आक्रामक खरपतवार प्रबंधन की राजनीति: ग्रामीण कैलिफोर्निया में लिंग, नस्ल और जोखिम धारणा। *ग्रामीण समाजशास्त्र*, *72* (3), 450-477।
27. सैकिया, ए. (2008)। असम में वन भूमि और किसान संघर्ष, 2002-2007। *जर्नल ऑफ पीजेंट स्टडीज*, *35* (1), 39-59।

28. वांडेकरखोव , एन., और सुयकेन्स , बी. (2008)। 'बोडोलैंड की मुक्ति': पश्चिमी असम में चाय, वानिकी और आदिवासी बंधन। *दक्षिण एशिया: जर्नल ऑफ साउथ एशियन स्टडीज* , *31* (3), 450-471।
29. रामनाथ, एम. (2008). वन अधिकार अधिनियम से बचना: स्काइला और चारीबडीस के बीच। *आर्थिक और राजनीतिक साप्ताहिक* , 37-42.
30. रसूल, जी. (2007). बांग्लादेश के चटगाँव पहाड़ी इलाकों में वन कॉमन के क्षरण की राजनीतिक पारिस्थितिकी. *पर्यावरण संरक्षण*, *34* (2), 153-163.
31. शाह, ए. (2007). स्वदेशीता का स्याह पक्ष?: भारत में स्वदेशी लोग, अधिकार और विकास. *इतिहास कम्पास*, *5* (6), 1806-1832.
32. मरे ली, टी. (2007) । संयोजन और सामुदायिक वन प्रबंधन की प्रथाएँ। *अर्थव्यवस्था और समाज*, *36* (2), 263-293।
33. नॉरगार्ड, के.एम. (2007) । आक्रामक खरपतवार प्रबंधन की राजनीति: ग्रामीण कैलिफोर्निया में लिंग, नस्ल और जोखिम धारणा। *ग्रामीण समाजशास्त्र* , *72* (3), 450-477।
34. सैकिया, ए. (2008) । असम में वन भूमि और किसान संघर्ष, 2002-2007। *जर्नल ऑफ पीजेंट स्टडीज*, *35* (1), 39-59।
35. वांडेकरखोव, एन., और सुयकेन्स, बी. (2008)। 'बोडोलैंड की मुक्ति': पश्चिमी असम में चाय, वानिकी और आदिवासी बंधन। *दक्षिण एशिया: जर्नल ऑफ साउथ एशियन स्टडीज*, *31* (3), 450-471।
36. रामनाथ, एम. (2008). वन अधिकार अधिनियम से बचना: स्काइला और चारीबडीस के बीच। *आर्थिक और राजनीतिक साप्ताहिक* , 37-42.
37. जेविट, एस. (2008). झारखंड संघर्षों की राजनीतिक पारिस्थितिकी. *एशिया पैसिफिक व्यूपॉइंट*, *49* (1), 68-82.
38. सुयकेन्स, बी. (2009). भारत में कानून और समाज में आदिवासी-वन संबंध: परस्पर विरोधी कथाएँ. *क्रिटिकल एशियन स्टडीज़* , *41* (3), 381-402.
39. हरीशा, एमके, और रानी, एम. (2009) । कर्नाटक के दक्षिण कन्नड़, उडुपी और उत्तर कन्नड़ जिलों में पर्यावरणवाद और आदिवासियों के वन अधिकार। *अर्थ जर्नल ऑफ सोशल साइंसेज*, *8* (1), 1-8.
40. कुमार, एस. (2009, सितंबर) । गुजरात के पूर्वी जनजातीय क्षेत्रों में वन कानून, जनजातीय जनसंख्या और नियोजन। *'जनसंख्या और पर्यावरण: स्थानीय और क्षेत्रीय नियोजन चुनौतियाँ' विषय पर सम्मेलन में, XXVIIUSSP अंतर्राष्ट्रीय जनसंख्या सम्मेलन, माराकेच* (खंड 27)।
41. थायिल , एन. (2009) । न्यायिक आदेश और समकालीन बाड़े। *संरक्षण और समाज* , *7* (4), 268-282।

42. हंट्सिंगर, एल., और डाइकमैन, एल. (2010)। वर्चुअल आरक्षण: भूमि वितरण, प्राकृतिक संसाधनों तक पहुँच, और युरोक वन पर समानता। *प्राकृतिक संसाधन जर्नल*, 341-369।
43. कुमार, के.ए., और रेड्डी, एम.जी. (2010). आदिवासी विकास की राजनीतिक अर्थव्यवस्था: आंध्र प्रदेश का एक केस स्टडी. *शासन कार्य पत्र*.
44. झा, एस. (2010). वनों के लोकतंत्रीकरण के लिए संघर्ष: उत्तर बंगाल, भारत में वन अधिकार आंदोलन। *सामाजिक आंदोलन अध्ययन*, *9* (4), 469-474.
45. डैश, टी. (2010). वन अधिकार अधिनियम: भारत में जैव विविधता संरक्षण को पुनर्परिभाषित करना। *नीतिगत मामले, पृ. 33-40*.
46. सैंडब्रुक, सी., नेल्सन, एफ., एडम्स, डब्ल्यू.एम., और अग्रवाल, ए. (2010) । कार्बन, वन और REDD विरोधाभास। *ओरिक्स, 44* (3), 330-334।
47. बोस, पी. (2011). वन स्वामित्व सुधार: अर्ध-शुष्क राजस्थान, भारत में आदिवासी महिलाओं के अधिकारों का बहिष्कार। *अंतर्राष्ट्रीय वानिकी समीक्षा*, *13* (2), 220-232.
48. बोस, पी. (2011) । पहचान आधारित बहिष्कार: अर्ध-शुष्क राजस्थान में आदिवासी महिलाओं के वन अधिकार। *13वें इंटरनेशनल एसोसिएशन फॉर द स्टडी ऑफ कॉमन्स कॉन्फ्रेंस, हैदराबाद (10-14 जनवरी) में*।
49. गोछायात, एस.ए. (2011). एफ.आर.ए. अधिनियम 2006 पर परियोजना: अनुसूचित जनजाति और अन्य पारंपरिक वन निवासी (वन अधिकारों की मान्यता) अधिनियम 2006। *SSRN 1957149 पर उपलब्ध है*।
50. सव्यसाची (2011) । वन अधिकार अधिनियम 2006: वन की आधारभूत स्थिति को कमजोर करना। *आर्थिक और राजनीतिक साप्ताहिक*, 55-62।
51. कुमार, के., और केर, जे.एम. (2012) । लोकतांत्रिक दावे: भारत द्वारा वन अधिकार अधिनियम को मान्यता देने का निर्माण। *विकास और परिवर्तन*, *43* (3), 751-771।
52. बलिल्ला , वी.एस., अनवर- मचेनरी , जे., मचेनरी , एम.पी., पार्किंसन, आर.एम., और बानल, डी.टी. (2012)। मारिवेल्स के एटा मैगबुकुन : पारंपरिक स्वदेशी वन संसाधन उपयोग प्रथाएँ और सुदूर फ़िलीपीन क्षेत्रों में सतत आर्थिक विकास चुनौती। *जर्नल ऑफ़ सस्टेनेबल फ़ॉरेस्ट्री*, *31* (7), 687-709।
53. ओरांव, वी. (2012). *जनजातीय आजीविका का बदलता स्वरूप: सुंदरगढ़ जिला, ओडिशा में एक केस अध्ययन* (डॉक्टरेट शोध प्रबंध)।
54. बोस, पी. (2013). व्यक्तिगत स्वामित्व अधिकार, नागरिकता और संघर्ष: आदिवासी भारत के वन प्रशासन के परिणाम। *वन नीति और अर्थशास्त्र*, *33*, 71-79.
55. स्प्रिंगेट-बैगिंस्की, ओ., सरीन, एम., और रेड्डी, एम.जी. (2013) । अधिकारों का विरोध: भारत में वन नौकरशाही और पट्टे का संक्रमण। *लघु-स्तरीय वानिकी, 12*, 107-124।

56. केनेडी, जे., और किंग, एल. (2013) । मध्य भारतीय जनजातीय क्षेत्र में आदिवासी, माओवादी और विद्रोह। *यूरोपियन जर्नल ऑफ सोशियोलॉजी/आर्काइव्स यूरोपियन्स डी सोशियोलॉजी, 54* (1), 1-32।
57. कृष्णन, जे., और जॉर्ज, ए. (2014) । आदिवासी समुदाय, जंगल, मछुआरे और नदी: जल न्याय कहां? *स्थानीय पर्यावरण*, *19* (9), 1012-1023।
58. डे, एस., रेसरेक्सियन, बी.पी., और डोनीस, पी. (2014)। लिंग और पर्यावरण संघर्ष: बांग्लादेश में आदिवासी गारो समुदाय की आवाज़ें। *लिंग, स्थान और संस्कृति*, *21* (8), 945-962।
59. लिन, के., डेगल, जे., हॉफमैन, जे., लेक, एफ., मिशेल, एन., रैंको , डी., ... और विलियम्स, पी. (2014)। आदिवासी पारंपरिक खाद्य पदार्थों पर जलवायु परिवर्तन का प्रभाव। *संयुक्त राज्य अमेरिका में जलवायु परिवर्तन और स्वदेशी लोग: प्रभाव, अनुभव और कार्य*, 37-48।
60. चतुर्वेदी, ए., हजारे, टी.एन., पाटिल, एन.जी., चतुर्वेदी, ए., मुंगोले, ए., और कांबले, आर. (2015)। पिछड़े आदिवासी क्षेत्र में आम संपत्ति संसाधनों के प्रबंधन में भूमि उपयोग नियोजन के मुद्दे। *भूमि उपयोग नीति*, *42* , 806-812।
61. मोहंती, पी. (2015)। राज्य विकास विमर्श, वन प्रबंधन और आदिवासियों की खाद्य सुरक्षा (कोटगढ़ वन्यजीव अभयारण्य, ओडिशा में आदिवासी भूमि अलगाव और मानव अधिकार के उल्लंघन का मामला)। वन प्रबंधन और आदिवासियों की खाद्य सुरक्षा (*कोटगढ़ वन्यजीव अभयारण्य, ओडिशा में आदिवासी भूमि अलगाव और मानव अधिकार के उल्लंघन का मामला) (3 दिसंबर, 2015)* ।
62. कुमार, के., सिंह, एन.एम., और केर, जे.एम. (2015)। भारत में विकेंद्रीकरण और लोकतांत्रिक वन सुधार: अधिकार-आधारित दृष्टिकोण की ओर बढ़ना। *वन नीति और अर्थशास्त्र*, *51* , 1-8।
63. त्रिपाठी, पी. (2016)। जनजातियाँ और वन: भारत में जनजातीय वन अधिकार का आलोचनात्मक मूल्यांकन। *रिसर्च जर्नल ऑफ सोशल साइंस एंड मैनेजमेंट*, *6* (6), 1-8।
64. सिरिपुरापु, के., मोहंती, पी., कोटामराजू , के., और जियोरेस , एम. (2016)। *वन अधिकार अधिनियम, 2006 की राजनीतिक पारिस्थितिकी-आंतरिक उपनिवेशवाद, भारत में वन संसाधन प्रशासन के लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण के लिए मुख्य चुनौती*। वर्किंग पेपर DOI: 10.13140/RG. 2.1. 5093.0965.
65. पुर्टी, एस. एंटिटल्ड (2017). लघु वनोपजों की कमी और आदिवासी महिलाओं के अधिकार. *महिला प्रतिष्ठा*, 127.
66. सत्पथी , बी. (2017). ओडिशा में वन अधिकार अधिनियम का कार्यान्वयन: ऐतिहासिक अन्याय का निवारण. *साउथ एशिया रिसर्च*, *37* (3), 259-276.

67. सारंगी, टी.के. (2017)। ओडिशा, भारत के संरक्षित क्षेत्रों में वन अधिकार अधिनियम 2006: संरक्षण और आजीविका के बीच संघर्ष को संदर्भ में रखना। *एशिया पैसिफिक जर्नल ऑफ एनवायर्नमेंटल लॉ*, *20* (1), 180-205।
68. पाटीदार, जे., कुम्हार, बी., म्हास्के , एस., और जाट, एस. (2018)। भारत के आदिवासी समुदाय में टिकाऊ कृषि का महत्व। *इंटरनेशनल जर्नल ऑफ बायो-रिसोर्स एंड स्ट्रेस मैनेजमेंट* , *9* (अप्रैल, 2), 253-256।
69. ज़ेवियर, एस. (2018). केरल की कादर जनजाति की समस्याएँ और चुनौतियाँ. *कंटेम्पररी वॉयस ऑफ़ दलित* , *10* (2), 204-215.
70. साहू, जी. (2019)। भारत के खनिज समृद्ध क्षेत्रों में वन अधिकार और आदिवासी: वेदांता मामला और उससे आगे। *रिसर्च हैंडबुक ऑन लॉ, एनवायरनमेंट एंड द ग्लोबल साउथ* (पृष्ठ 272-285) में। एडवर्ड एल्गर पब्लिशिंग।
71. नायक, ए. (2019)। लिंग, संसाधन प्रबंधन और सामाजिक अशांति: एक नृवंशविज्ञान केस स्टडी। *ओरिएंटल एंथ्रोपोलॉजिस्ट* , *19* (2), 240-256।
72. दास, एस., और त्यागी, एन. (2019)। संस्थान और संसाधन स्थिरता के मार्ग: भारत में वन अधिकार अधिनियम के कार्यान्वयन से सबक। *अंतर्राष्ट्रीय वानिकी समीक्षा* , *21* (3), 279-294।
73. डॉकरी , एमजे (2020)। प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन और निर्णय लेने में स्वदेशी अधिकार और सशक्तिकरण अमेरिकी वानिकी में परिवर्तन के चालक के रूप में। *डॉकरी , माइकल जे.; बेंगस्टन, डेविड एन.; वेस्टफाल, लिन एम., कॉम्प्स। अगले 20 वर्षों में अमेरिकी वनों और वानिकी में परिवर्तन के चालक। जनरल टेक। रिपोर्ट। एनआरएस-पी-197।* , 76-83।
74. साहू, जी. (2021). झारखंड में अनुसूचित जनजाति और अन्य पारंपरिक वनवासी (अधिकारों की मान्यता) अधिनियम 2006 का कार्यान्वयन: समस्याएँ और चुनौतियाँ। *जर्नल ऑफ़ लैंड एंड रूरल स्टडीज़* , *9* (1), 158-177.
75. बोस, पी. (2023)। न्यायसंगत भूमि-उपयोग नीति? खनन-प्रेरित वनों की कटाई के प्रति स्वदेशी लोगों का प्रतिरोध। *भूमि उपयोग नीति* , *129* , 106648।
76. विजयन, डी.जी., और उमामहेश्वरी, एस. (2023)। आदिवासी संस्कृति का अतिक्रमण और उनके संघर्ष का प्रतिनिधित्व। *दलितों की समकालीन आवाज़* , 2455328X231185254।
77. डार, एच.ए., और वानी, जेड.ए. (2024)। प्रतिरोध के बीच आदिवासी एकीकरण का विरोधाभास: जम्मू और कश्मीर में बकरवालों का एक अध्ययन। *समाजशास्त्रीय बुलेटिन* , *73* (4), 431-442।
78. शेट्टी, आर., और नायर, एस. (2024)। भारत में जनजातीय व्यवसायों के क्षरण की खोज के माध्यम से व्यक्ति-व्यवसाय के बीच की उलझन को समझना। *जर्नल ऑफ ऑक्यूपेशनल साइंस* , *31* (1), 88-101।

79. शर्मा, पी., और मोहन, के. (2024)। स्थान, आजीविका और आदिवासी लोग: भारत में संबंधों की खोज। *जर्नल ऑफ रूरल एंड इंडस्ट्रियल डेवलपमेंट*, *12* (1)।

80. कर्माकर, जी. (2024). अन्याय और सबाल्टर्न पर्यावरणवाद: भूपाल के जंगल में आदिवासी पारिस्थितिकी तंत्र और उपनिवेशवाद विरोधी प्रथाएँ, रक्त और अस्तित्व: कोमुराम भीम का जीवन और समय। *जर्नल फॉर कल्चरल रिसर्च*, 1-20.

परिशिष्ट

प्रश्नावली

औपनिवेशिक एवं औपनिवेशिकोत्तर शासन के खिलाफ वन संसाधनों की पहुंच के लिए जनजातीय संघर्षो के ऐतिहासिक साक्ष्य : झारखंड के संदर्भ में एक अध्ययन ।

पीएच. डी. शोध प्रबंध हेतु प्रश्नावली

इतिहास विभाग — शोधार्थी
नामांकन संख्या : — श्रीमती संध्या लकड़ा
YBNU2001207 — वाई. बी. एन. विश्वविद्यालय

प्रश्न संख्या 1. क्या आपका परिवार जीविका के लिए वनों पर निर्भर हैं?
हाँ ☐ नहीं ☐ कभी–कभी ☐

प्रश्न संख्या–2. क्या वनों के संसाधनों का प्रयोग आप स्वतंत्र रूप से कर रहे हैं?
हाँ ☐ नहीं ☐ कभी–कभी ☐

प्रश्न संख्या–3. क्या वन संसाधनों पर पहुँच के लिए आपको सरकारी नीतियों के कारण परेशानी होती है?
हाँ ☐ नहीं ☐ कभी–कभी ☐

प्रश्न संख्या–4. क्या जनजातीय संघर्ष वन संसाधनों पर पहुँच कायम करने के लिए कारगर हुआ है?
हाँ ☐ नहीं ☐ कभी–कभी ☐

प्रश्न संख्या–5. झारखंड में खनन और उद्योगों के लिए वनों का दोहन जारी है। क्या इसे आप विकास के लिए आवश्यक समझते हैं?
हाँ ☐ नहीं ☐ कभी–कभी ☐

प्रश्न संख्या–6. औपनिवेशिक काल में अंग्रेजों के हस्तक्षेप से जनजातीय समुदायों की आजीविका और पर्यावरण संतुलन दोनों को नुकसान पहुंचा है?
हाँ ☐ नहीं ☐ कभी–कभी ☐

प्रश्न संख्या–7. दोनों कालों में संघर्षों का मूल उद्देश्य आदिवासी समुदायों के जंगलों और भूमि पर अधिकार की रक्षा करना था ?
हाँ ☐ नहीं ☐ कभी–कभी ☐

प्रश्न संख्या–8. क्या वन अधिकार अधिनियम, २००५ ने आदिवासियों को उनके पारम्परिक वन अधिकारों पर अधिकार प्रदान किया था?
हाँ ☐ नहीं ☐ कभी–कभी ☐

प्रश्न संख्या–9. क्या वन संरक्षण अधिनियम २०२२ आदिवासियों और वनाधिकार कानून 2006 के लिए खतरा है?
हाँ ☐ नहीं ☐ कभी–कभी ☐

प्रश्न संख्या–10. क्या नक्सलवाद के प्रभाव के कारण जनजातियों की वनों संसाधनों पर निर्भरता में कमी आई हैं।
हाँ ☐ नहीं ☐ कभी–कभी ☐

पी. एच. डी. शोध प्रबंध हेतु प्राथमिक आंकड़ा संग्रहन विवरणी

क्रम सं0	ग्रामीण नाम एवं पता	उम्र	शैक्षणिक योग्याता	हस्ताक्षर	प्रश्न संख्या–1			प्रश्न संख्या–2			प्रश्न संख्या–3		
					हाँ	नहीं	कभी–कभी	हाँ	नहीं	कभी–कभी	हाँ	नहीं	कभी–कभी
1.	चरित्रा संगा	42		चरित्रा	✓				✓		✓		
2.	चम्पू मुण्डा	35		चम्पु	✓				✓		✓		
3.	ममता उराँव	35	6	ममता	✓				✓		✓		
4	सविता लकड़ा	27	M.Com	Sabita Lakra	✓				✓		✓		
5.	रिंकी उराँव	22	5	Rinkey oraon	✓				✓		✓		
6.	कविता लकड़ा	29	12th	Kavita Lakra	✓				✓		✓		
7.	अंजु कुमारी	14	7	Anju Kumari	✓				✓		✓		
8.	तनु कुमारी	19	12th	Tanu Kumari	✓				✓		✓		
9.	रुकमनी देवी	24	8	Rukmani devi	✓				✓		✓		
10.	मुन्नी देवी	40		MUNNi devi	✓				✓		✓		
11.	रीता देवी	30		RITA DEVI	✓				✓		✓		
12.	मुन्नी देवी	35		Munni Devi	✓				✓		✓		
13.	सुप्रिया कुमारी	14	7	Supriya Kumari	✓				✓		✓		
14.	जानकी लोहरा	35	10	Janki Lohra	✓				✓		✓		

पी. एच. डी. शोध प्रबंध हेतु प्राथमिक आंकड़ा संग्रहन विवरणी

क्रम सं0	ग्रामीण नाम एवं पता	उम्र	शैक्षणिक योग्याता	हस्ताक्षर	प्रश्न संख्या–1			प्रश्न संख्या–2			प्रश्न संख्या–3		
					हाँ	नही	कभी–कभी	हाँ	नही	कभी–कभी	हाँ	नही	कभी–कभी
1	मीना कुच्छप	34	इन्टर	MKachhap	✓				✓		✓		
2	मिनी लकड़ा	30	स्नातक	Mini Lakra	✓			✓			✓		
3	[illegible] कच्छप	35	स्नातक	[illegible]	✓			✓			✓		
~~3~~	~~[illegible] कच्छप~~	~~35~~	~~स्नातक~~	~~[illegible]~~									
4.	रोशिता करला	40	स्नातक	Rosita	✓			✓			✓		
5	फिलीशा तिर्की	36	इन्टर	Filisa	✓			✓			✓		
6	सीमा किस्पोट्टा	29	स्नातक	Seema Kispotta	✓			✓			✓		
7	सुनीता केरकेट्टा	30	इन्टर	सुनीता केरकेट्टा	✓			✓			हाँ		
8	अंजली उराँव	23		अंजली	✓			✓			✓		
9	अंजु कच्छप	30		अंजु	✓			✓			✓		
10	प्रिया कच्छप	18	इन्टर	प्रिया कच्छप	✓			✓			✓		
11	दीप्ती उराँव	24	10	दीप्तीउराँव	✓			✓			✓		
12	हुसनाथ मुण्डा	32	पाँचवी	हुसनाथ मुण्डा	✓			✓			✓		
13	फोको देवी	48		फोको देवी	✓			✓			✓		

साइट विजिट

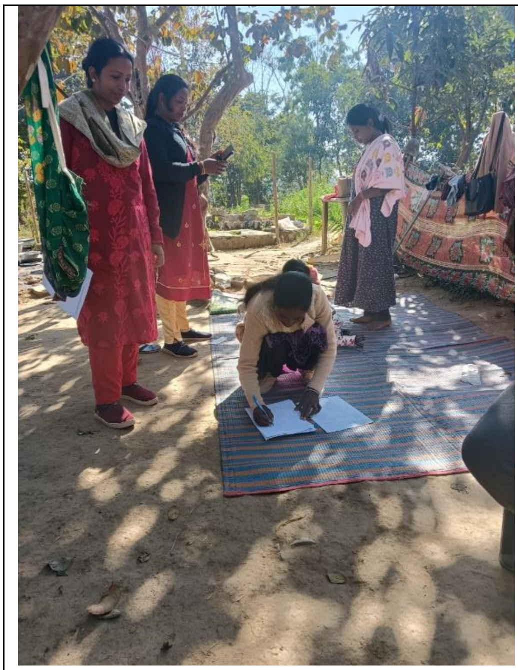	

Vol 6, Issue 12, 2023 Impact Factor: 5.099 DOI: https://doi.org/10.31426/ijamsr.2023.6.12.6961

IJAMSR

International Journal of
Advanced Multidisciplinary Scientific Research (IJAMSR) ISSN:2581-4281

औपनिवेशिक नीतियां और स्वदेशी प्रतिरोध: झारखंड में आदिवासी आजीविका पर ब्रिटिश वन नियमों के प्रभाव का विश्लेषण

संध्या लकड़ा

रिसर्च स्कॉलर, वाईबीएन यूनिवर्सिटी, रांची।

डॉ सुस्मिता महापात्रा

एसोसिएट प्रोफेसर एवं एचओडी,
इतिहास विभाग, वाईबीएन विश्वविद्यालय, रांची

सारांश (Abstract)

यह शोध झारखंड के आदिवासी समुदायों पर ब्रिटिश औपनिवेशिक वन नीतियों के प्रभावों का विश्लेषण करता है। पारंपरिक रूप से आदिवासी समाज जंगलों पर निर्भर था, जो उनकी आजीविका, सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन का आधार थे। ब्रिटिश वन नियमों, विशेषकर 1865 और 1878 के भारतीय वन अधिनियमों ने आदिवासियों के वन अधिकारों को सीमित कर दिया, जिससे उनकी आजीविका और सामाजिक संरचना पर गहरा असर पड़ा। वन संसाधनों तक पहुंच न होने के कारण आदिवासियों को गरीबी, विस्थापन, और सामाजिक विघटन का सामना करना पड़ा। इस शोध में आदिवासी समाज के प्रतिरोध और संघर्षों का भी विश्लेषण किया गया है, जिसमें बिरसा मुंडा जैसे नेतृत्वकर्ताओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा।

मुख्य बिंदु: औपनिवेशिक वन नीतियाँ (Colonial Forest Policies), आदिवासी आजीविका (Tribal Livelihood), झारखंड (Jharkhand), प्रतिरोध आंदोलन (Resistance Movement)

1. परिचय

झारखंड के आदिवासी समुदायों का पारंपरिक जीवन जंगलों और प्राकृतिक संसाधनों पर आधारित रहा है। उनके जीवन का आधार जंगलों से प्राप्त होने वाली उपज, जड़ी-बूटियों, शिकार, और खेती-बाड़ी रहा है। आदिवासी समाज ने सदियों से जंगलों के साथ सामंजस्यपूर्ण संबंध बनाए रखा, जहाँ प्राकृतिक संसाधनों का सतत् उपयोग उनकी आजीविका और सांस्कृतिक धरोहर का अभिन्न हिस्सा था। लेकिन ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के आगमन के साथ ही, इस पारंपरिक जीवन में बदलाव आने लगा। ब्रिटिश शासन का प्रमुख उद्देश्य भारत के प्राकृतिक संसाधनों का दोहन और उनका व्यावसायिक लाभ उठाना था। (कैन एट अल., 2017) इसके तहत, ब्रिटिश सरकार ने 19वीं सदी के मध्य में वन संसाधनों पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए वन कानूनों और नीतियों को लागू किया। 1865 का भारतीय वन अधिनियम और इसके बाद 1878 में संशोधित वन अधिनियम जैसे कानूनों ने जंगलों पर सरकारी नियंत्रण स्थापित किया और आदिवासियों के वन संसाधनों पर

पारंपरिक अधिकारों को गंभीर रूप से सीमित कर दिया। इन नीतियों के तहत आदिवासियों के लिए जंगलों में प्रवेश, लकड़ी और अन्य वन उत्पादों का संग्रहण निषिद्ध हो गया। औपनिवेशिक वन नियमों ने आदिवासियों के जीवन पर विनाशकारी प्रभाव डाला। जंगलों पर उनकी निर्भरता के बावजूद, ब्रिटिश नीतियों ने उन्हें उनके ही प्राकृतिक संसाधनों से वंचित कर दिया। इससे आदिवासियों की आजीविका, सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक परंपराएं बुरी तरह प्रभावित हुईं। जंगलों से वंचित होने के कारण आदिवासियों के लिए भुखमरी, विस्थापन और गरीबी जैसी समस्याएँ उत्पन्न होने लगीं। (सतपथी, 2015) उनके लिए जंगलों से मिलने वाले खाद्य स्रोत, औषधीय पौधे और अन्य प्राकृतिक उपज तक पहुँचना कठिन हो गया, जिससे उनकी आर्थिक स्थिति भी कमजोर हो गई। इन नीतियों के प्रति आदिवासी समाज ने प्रतिरोध का रास्ता अपनाया। बिरसा मुंडा के नेतृत्व में मुंडा विद्रोह (उलगुलान) और अन्य आदिवासी आंदोलनों ने ब्रिटिश सरकार के वन नियमों और अन्य शोषणकारी नीतियों के खिलाफ आवाज उठाई। इन आंदोलनों का उद्देश्य सिर्फ वन अधिकारों की बहाली नहीं था, बल्कि उनके सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन को बचाना भी था। प्रतिरोध के ये प्रयास आदिवासी समाज के संघर्षशील और आत्मनिर्भर स्वभाव को प्रदर्शित करते हैं। ब्रिटिश वन नियमों और नीतियों के परिणामस्वरूप, झारखंड के आदिवासी समुदायों ने अपने पारंपरिक जीवन और अधिकारों की रक्षा के लिए कठिन संघर्ष किया। यह संघर्ष न केवल औपनिवेशिक दमन के खिलाफ था, बल्कि उनके अस्तित्व, संस्कृति और स्वतंत्रता की रक्षा का भी प्रतीक था, जिसका प्रभाव आज भी झारखंड के आदिवासी समाज में देखा जा सकता है।

1.1 औपनिवेशिक वन नीतियों का उद्भव

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के तहत भारत में वन संसाधनों का प्रबंधन और दोहन एक प्रमुख उद्देश्य बन गया था। 19वीं सदी के मध्य में ब्रिटिश सरकार ने भारतीय जंगलों का व्यावसायिक रूप से लाभ उठाने के लिए नई वन नीतियों का निर्माण किया। इसका मुख्य कारण था ब्रिटेन में बढ़ती औद्योगिक आवश्यकताओं के लिए लकड़ी और अन्य वन उत्पादों की आपूर्ति को सुनिश्चित करना, साथ ही रेलवे के विस्तार के लिए लकड़ी की बढ़ती मांग को पूरा करना (प्रकाश, 2015) ।

1.2 प्रारंभिक संदर्भ

ब्रिटिश शासन के शुरुआती दौर में भारतीय जंगलों को लेकर कोई औपचारिक नीति नहीं थी। उस समय जंगलों का उपयोग स्थानीय समुदायों द्वारा कृषि, पशुपालन, और वन उपज के लिए स्वतंत्र रूप से किया जाता था। लेकिन जैसे-जैसे ब्रिटिश सत्ता मजबूत हुई और औद्योगिककरण के साथ संसाधनों की मांग बढ़ी, ब्रिटिश सरकार ने इन जंगलों पर नियंत्रण करने की योजना बनाई।

1.3 1865 का भारतीय वन अधिनियम

1865 में ब्रिटिश सरकार ने पहला भारतीय वन अधिनियम लागू किया, जिसने जंगलों को सरकार के अधिकार क्षेत्र में लाने की प्रक्रिया शुरू की। इस अधिनियम का उद्देश्य था सरकार द्वारा कुछ चुनिंदा जंगलों को "राजकीय जंगलों" के रूप में नामित करना और उनकी देखरेख करना। इसके तहत जंगलों के वाणिज्यिक

उपयोग और नियंत्रण की व्यवस्था की गई, जिससे स्थानीय आदिवासी और ग्रामीण समुदायों के परंपरागत अधिकार सीमित हो गए (पटनायक, 2007) ।

1.4 1878 का भारतीय वन अधिनियम

1878 में संशोधित भारतीय वन अधिनियम को लागू किया गया, जिसने पहले से कहीं अधिक कठोर वन नियम स्थापित किए। इस अधिनियम के तहत जंगलों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया: आरक्षित वन, संरक्षित वन, और ग्राम वन। आरक्षित वनों में आदिवासियों और स्थानीय लोगों के सभी प्रकार के अधिकार समाप्त कर दिए गए। सरकार ने इन वनों के सभी उत्पादों पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त कर लिया, और इन जंगलों में प्रवेश भी प्रतिबंधित कर दिया गया। संरक्षित और ग्राम वनों में भी नियमों का पालन किया जाना आवश्यक था, जिससे पारंपरिक आदिवासी जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा (पारिख, 2013)।

1.5 वाणिज्यिक दोहन और वन प्रबंधन

औपनिवेशिक वन नीतियों का प्रमुख उद्देश्य वाणिज्यिक दोहन था। ब्रिटिश सरकार ने भारतीय जंगलों से लकड़ी, रेजिन, और अन्य वन उत्पादों का बड़े पैमाने पर निर्यात करना शुरू किया। रेलवे के विस्तार, जहाज निर्माण, और कोयला खदानों के लिए भी लकड़ी की भारी मांग थी, जिसे पूरा करने के लिए भारतीय जंगलों का बड़े पैमाने पर कटान किया गया। औपनिवेशिक वन नीतियों का उद्भव भारतीय आदिवासियों के पारंपरिक जीवन और वन अधिकारों को हाशिए पर धकेलने की शुरुआत थी, जिसके परिणामस्वरूप आदिवासी समाज को सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक नुकसान झेलना पड़ा (टॉरेस-रोजो, 2016) ।

2. साहित्य की समीक्षा

मलिक, सृष्टि और रवि शरण दीक्षित (2020) ने कहा कि उनके लेख में जंगलों, लोगों और राज्य के बीच संबंधों की खोज की गई थी, खासकर उत्तराखंड के संबंध में, जिसने उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में औपनिवेशिक सत्ता और वन संसाधनों पर वर्चस्व का खामियाजा भुगता था। उन्होंने अन्य पहलुओं के अलावा औपनिवेशिक वाणिज्यिक वानिकी, वैज्ञानिक प्रथाओं और स्थानीय लोगों के पारंपरिक प्रथागत अधिकारों में हस्तक्षेप का पता लगाया। उन्होंने उल्लेख किया कि रामचंद्र गुहा, माधव गाडगिल और शेखर पाठक ने उत्तराखंड के पर्यावरण इतिहास पर विस्तृत और दिलचस्प प्रवचन लिखे हैं, जिसका अंग्रेजों की वैज्ञानिक प्रथाओं के खिलाफ प्रतिरोध का एक लंबा इतिहास रहा है। एक सदी से भी अधिक समय से, विकास ने प्रमुख पारिस्थितिक परिवर्तन लाए हैं, जिसमें ओक के बागानों से चीड़-पाइन में परिवर्तन शामिल है, जो पर्यावरणीय छोर पर बारिश, मिट्टी के कटाव और भूस्खलन को प्रभावित करता है। उन्होंने उल्लेख किया कि इस मुद्दे से संबंधित विभिन्न प्रश्नों के उत्तर दिए जा सकते हैं, जैसे कि पर्यावरण नियंत्रण के बदलते पैटर्न के प्रति स्वदेशी प्रतिक्रिया, उस अवधि के दौरान औपनिवेशिक सत्ता का प्रतिरोध कैसे हुआ और कैसे वन नीति और अधिनियम ने वन क्षेत्रों पर नियंत्रण को जन्म दिया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि इस स्थिति ने विशेष रूप से महिलाओं को बुरी तरह प्रभावित किया है, जिन्होंने इसका खामियाजा भुगता है और 1970 के दशक के चिपको आंदोलन के रूप में अंग्रेजों की वर्चस्वकारी वन नीतियों के खिलाफ प्रतिरोध जारी रखने के लिए सबसे आगे आई हैं।

मापेड्ज़ा, एवरिस्टो (2007) ने संकेत दिया कि माफुंगौत्सी फ़ॉरेस्ट रिजर्व के मामले का उपयोग करते हुए, उनके पेपर ने ज़िम्बाब्वे में सामुदायिक और आरक्षित वन इंटरफ़ेस पर नीति और व्यवहार में निरंतरता और परिवर्तनों पर चर्चा की थी। उन्होंने कहा कि ज़िम्बाब्वे में औपनिवेशिक वानिकी नीति को अक्सर दमनकारी करार दिया गया था, क्योंकि सामुदायिक क्षेत्रों में नागरिकों को इसके निर्माण और कार्यान्वयन में प्रभावी रूप से भाग लेने की अनुमति नहीं थी। 1980 में स्वतंत्रता के बाद, यह माना जाता था कि वानिकी क्षेत्र के भीतर अधिक भागीदारी का युग शुरू होगा। हालाँकि, उन्होंने बताया कि स्थानीय समुदायों के लिए वानिकी नीतियों और प्रबंधन में अधिक इनपुट होने की उम्मीद काफी हद तक अधूरी रही है। वनों के प्रबंधन के लिए जिम्मेदार राज्य संस्थान स्वतंत्रता-पूर्व बयानबाजी के बावजूद वानिकी संसाधनों के प्रबंधन में स्थानीय समुदायों की भागीदारी के प्रति काफी हद तक असहानुभूतिपूर्ण रहे हैं। उन्होंने यह भी उल्लेख किया कि स्थानीय किसानों को निर्णय लेने में शामिल करके उन्हें नागरिक बनाने के सह-प्रबंधन के प्रयासों के साथ-साथ, औपनिवेशिक नीति की निरंतरता ने संसाधनों का उपयोग करने वाले स्थानीय किसानों को पेड़ों और जंगलों को नष्ट करने वाले अपराधियों के रूप में माना है। उनके शोधपत्र ने जांच की कि जिम्बाब्वे में वानिकी के मौलिक नीतिगत परिप्रेक्ष्य में अभी भी स्थानीय किसानों को जंगलों के असंतुलित शोषक के रूप में माना जाता है। उन्होंने देखा कि स्थानीय संसाधन उपयोगकर्ता विज्ञान पर आधारित दमनकारी वानिकी नीतियों और प्रथाओं के निष्क्रिय प्राप्तकर्ता नहीं रहे हैं, बल्कि 1950 के दशक से ही उनका सक्रिय रूप से विरोध करते रहे हैं।

बोस, पुराबी, बास आर्ट्स और हान वैन डिज्क (2012) ने तर्क दिया कि उनके शोधपत्र ने अनुसूचित जनजातियों को वर्गीकृत करने और आदिवासी क्षेत्रों में वनों को उचित और वैध बनाने के लिए ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन और स्वतंत्र भारत दोनों के ऐतिहासिक प्रक्षेपवक्र का विश्लेषण किया। उन्होंने फौकॉल्ट की शासन व्यवस्था की धारणा पर निर्माण करते हुए तर्क दिया कि अनुसूचित जनजातियों के विषय-निर्माण का इतिहास और वन सीमांकन का संबंधित इतिहास भारत में विकेन्द्रीकृत वन प्रबंधन की वर्तमान राजनीति को समझने के लिए अपरिहार्य रहा है। उन्होंने 'वन शासन' के तीन आयामों पर चर्चा की- वर्गीकरण का इतिहास, सामाजिक पहचान की राजनीति और वन शासन की तकनीकें- यह दिखाने के लिए कि वन स्वामित्व अधिकारों को राजनीतिक बनाने के हाल के प्रयासों ने प्राधिकरण, समावेशन और बहिष्कार के नए रूपों के माध्यम से अनुसूचित जनजातियों पर राजनीतिक नियंत्रण को कैसे मजबूत किया है। हालांकि, उन्होंने उल्लेख किया कि वन भूमि और संसाधनों पर अपने व्यक्तिगत और सामुदायिक अधिकारों का दावा करने के लिए, अनुसूचित जनजातियों ने अपनी 'नई' जातीय पहचान को आंतरिक रूप से अपना लिया है, जिससे वर्तमान वन शासन व्यवस्था के भीतर प्रतिकारी शक्ति और पैंतरेबाज़ी करने की गुंजाइश पैदा हो गई है। उन्होंने पश्चिमी भारत के अर्ध-शुष्क क्षेत्र में मुख्य रूप से वन-निर्भर अनुसूचित जनजाति भील के एक केस स्टडी के साथ इसका समर्थन किया।

कुमार (2012) ने उल्लेख किया कि, पिछले दो दशकों में, दक्षिण एशिया में वानिकी क्षेत्र में मजबूत सुधार हुए हैं, जिसके बारे में कहा गया था कि यह राज्य-केंद्रित से लोगों-केंद्रित वन प्रबंधन में परिवर्तन की शुरुआत कर रहा है। इस बदलाव को भारत में शासन प्रक्रियाओं में उपनिवेशवाद के उन्मूलन की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम माना गया। औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक दक्षिण भारत में वन नीतियों की जांच करने पर, लेख में पाया गया कि उत्तर-औपनिवेशिक भारत में सामुदायिक वन प्रबंधन काफी हद तक वन संसाधन प्रबंधन

नीतियों के औपनिवेशिक ढांचे में निहित रहा। व्यवहार में, इसका मतलब यह था कि वनों के दोहन ने उस समय वन-निर्भर समुदायों की आवश्यकताओं पर कुछ विचार किया, लेकिन यह एक ऐसे राज्य के नियंत्रण में हुआ जो अपने कई सबसे कमजोर नागरिकों के सबसे बुनियादी अधिकारों की रक्षा करने में विफल रहा। इस प्रकार लेख ने आलोचनात्मक रूप से तर्क दिया कि भारत में कथित रूप से लोगों-केंद्रित सामुदायिक वन प्रबंधन स्थानीय विकास आवश्यकताओं के प्रति पर्याप्त संवेदनशील नहीं था, न ही वास्तव में कई वन-निर्भर लोगों की बुनियादी जरूरतों की पर्याप्त सुरक्षा करता था।

ग्रोव (2017) ने संकेत दिया कि स्वदेशी ग्रामीण समाजों पर औपनिवेशिक प्रभाव के अधिकांश ऐतिहासिक विश्लेषणों में, हाल ही तक, कृषि योग्य प्रणालियों के साथ लगभग अनन्य रूप से व्यस्तता रही है। उन्होंने कहा कि गैर-कृषि योग्य परिदृश्य की चौंकाने वाली उपेक्षा दुर्भाग्यपूर्ण रही है, क्योंकि कई समाजों में, सीमांत, गैर-कृषि योग्य भूमि और जंगलों का दोहन करने की क्षमता अस्तित्व के लिए महत्वपूर्ण रही है, और ऐसा करने की क्षमता लगातार अधिक सीमित होती गई है क्योंकि संसाधन वस्तु उत्पादन के लिए समर्पित हो गए हैं। इस संबंध में औपनिवेशिक शासन विशेष रूप से महत्वपूर्ण रहा है। यह देखा गया कि उपनिवेशवाद और उसके उत्तराधिकारी राज्यों ने लोगों, जंगलों और अन्य गैर-कृषि योग्य भूमि के बीच के संबंधों की प्रकृति में परिवर्तन लाया है। इसमें, संक्षेप में, स्थानीय रूप से विकसित मानव-भूमि संबंधों से सीधे निजी संपत्ति की स्थिति या सीधे राज्य नियंत्रण की ओर संक्रमण शामिल था। इन परिवर्तनों में अक्सर वस्तु उत्पादन के लिए परिदृश्य का बढ़ता दोहन और प्रथागत नियंत्रण और सामान्य संपत्ति अधिकारों या परंपराओं का क्षरण शामिल होता है। ग्रोव ने बताया कि पारिस्थितिक संक्रमण मुख्यतः, हालांकि किसी भी तरह से अनन्य नहीं था, दुनिया भर में यूरोपीय पूंजीवादी व्यवस्था के प्रसार के साथ-साथ औपनिवेशिक संदर्भ के बाहर और भीतर पश्चिमी आर्थिक प्रक्रिया के प्रवेश के साथ हुआ था। उन्होंने जोर दिया कि अध्याय मुख्य रूप से पश्चिमी पारिस्थितिक प्रणालियों की राजनीतिक अर्थव्यवस्था और औपनिवेशिक परिधि में उनके विस्तार के परिणामों से संबंधित था, विशेष रूप से वन संरक्षण के रूपों में। हालांकि, उन्होंने पारिस्थितिक नियंत्रण के नए रूपों के विकास को समझने के महत्व को भी रेखांकित किया, विशेष रूप से राज्य स्तर पर, व्यापारिक समुद्री राज्यों के विकास में बहुत पहले के चरणों में, इन राज्यों की बढ़ती संसाधन मांगों को यूरोप से निर्यात किए जाने से पहले। जबकि मुख्य जोर औपनिवेशिक वन और मिट्टी नियंत्रण की राजनीतिक अर्थव्यवस्था पर था, पारिस्थितिक नियंत्रण के अन्य प्रमुख रूपों के प्रति सामाजिक प्रतिक्रिया पर भी ध्यान दिया गया।

3. पारंपरिक आदिवासी आजीविका और जंगलों पर निर्भरता

झारखंड के आदिवासी समुदायों की पारंपरिक आजीविका मुख्य रूप से जंगलों और प्राकृतिक संसाधनों पर आधारित रही है। आदिवासियों के जीवन में जंगल न केवल एक आर्थिक संसाधन थे, बल्कि उनके सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन का भी अभिन्न हिस्सा थे। पीढ़ियों से आदिवासी समुदाय जंगलों के साथ सामंजस्यपूर्ण संबंध बनाए हुए थे, जहाँ वे प्रकृति से प्राप्त संसाधनों का सतत् उपयोग करते हुए अपनी आजीविका चलाते थे।

3.1 आर्थिक निर्भरता: आजीविका के साधन

आदिवासी समुदाय अपनी आजीविका के लिए सीधे तौर पर जंगलों पर निर्भर रहते थे। उनके पारंपरिक आर्थिक साधन थे:

IJAMSR
International Journal of
Advanced Multidisciplinary Scientific Research (IJAMSR) ISSN:2581-4281

- **शिकार और मछली पकड़ना:** आदिवासी जंगलों में शिकार करके और नदियों-झरनों में मछली पकड़कर अपने भोजन की व्यवस्था करते थे। यह उनके भोजन का प्रमुख स्रोत था।
- **कृषि:** जंगलों के आसपास की भूमि पर आदिवासी समूहों द्वारा झूम खेती (स्थानांतरित खेती) की जाती थी। इसके तहत जंगल की भूमि को कुछ समय के लिए साफ कर उसमें खेती की जाती थी, फिर भूमि को कुछ समय के लिए छोड़ दिया जाता था ताकि मिट्टी की उर्वरता फिर से लौट सके।
- **वन उपज का संग्रहण:** आदिवासी समुदाय जंगलों से फल, शहद, कंद-मूल, जड़ी-बूटियाँ, लकड़ी, रेजिन, और अन्य वन उत्पादों को इकट्ठा करते थे, जो उनकी दैनिक जरूरतों और व्यापार के लिए इस्तेमाल होते थे। वे इन्हें स्थानीय बाजारों में बेचते थे या स्वयं के उपयोग के लिए रखते थे।
- **घरेलू उपयोग के लिए लकड़ी:** आदिवासी लोग जंगलों से ईंधन के लिए लकड़ी, घर बनाने के लिए बाँस और छप्पर के लिए पत्तियों का उपयोग करते थे।

3.2 सांस्कृतिक और धार्मिक निर्भरता

आदिवासियों का जंगलों के साथ केवल आर्थिक संबंध ही नहीं था, बल्कि यह उनके धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन का भी केंद्र था। कई आदिवासी समुदायों की मान्यताओं में जंगलों को पवित्र स्थान माना जाता था। वे विभिन्न पेड़ों, पहाड़ों, और नदियों को देवी-देवताओं का निवास मानते थे और विशेष अवसरों पर जंगलों में पूजा करते थे। उनके धार्मिक त्योहार, अनुष्ठान और विवाह जैसे आयोजन भी जंगलों से जुड़े होते थे।

3.3 पर्यावरणीय और सामाजिक संतुलन

आदिवासी समुदायों ने जंगलों के साथ ऐसा संतुलन स्थापित किया था, जो प्रकृति की रक्षा और उनके जीवन की निरंतरता दोनों को बनाए रखता था। आदिवासी समाज प्राकृतिक संसाधनों का सीमित उपयोग करता था और जंगल की उर्वरता और संरक्षण के लिए जिम्मेदार होता था। इस प्रकार जंगल और आदिवासी समाज के बीच एक सतत् और टिकाऊ संबंध बना रहता था।

3.4 औपनिवेशिक हस्तक्षेप से पहले स्थिति

औपनिवेशिक हस्तक्षेप से पहले, झारखंड के आदिवासी समुदायों के जंगलों पर स्वाभाविक और स्वतंत्र अधिकार थे। वे इन संसाधनों का बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के उपयोग करते थे, जिससे उनकी आजीविका सुरक्षित रहती थी और वे समृद्ध सांस्कृतिक जीवन जीते थे। जंगलों ने उन्हें न केवल भौतिक रूप से बल्कि भावनात्मक और सांस्कृतिक रूप से भी समर्थन दिया।

3.5 वन नीतियों का प्रभाव

औपनिवेशिक नीतियों ने आदिवासी समुदायों के इन पारंपरिक अधिकारों को छीन लिया। जंगलों पर सरकार का नियंत्रण स्थापित हो गया, और आदिवासियों के लिए वन उपज का संग्रहण, शिकार, और खेती प्रतिबंधित कर दिया गया, जिससे उनकी आजीविका पर गंभीर असर पड़ा। आदिवासी समाज का पारंपरिक जीवन जंगलों से गहराई से जुड़ा हुआ था, और उनका आर्थिक, सांस्कृतिक, और धार्मिक अस्तित्व इन संसाधनों पर निर्भर था। औपनिवेशिक शासन के आगमन ने इस संतुलित जीवन पर सीधा आघात किया, जिससे आदिवासी समुदायों को अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करना पड़ा।

Vol 6, Issue 12, 2023 Impact Factor: 5.099 DOI: https://doi.org/10.31426/ijamsr.2023.6.12.6961
IJAMSR
International Journal of
Advanced Multidisciplinary Scientific Research (IJAMSR) ISSN:2581-4281

4. वन नियमों के परिणामस्वरूप आदिवासी जीवन में बदलाव

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के दौरान लागू किए गए वन नियमों का झारखंड के आदिवासी समुदायों पर गहरा और दूरगामी प्रभाव पड़ा। पारंपरिक रूप से जंगलों पर निर्भर आदिवासी समुदायों के जीवन, आजीविका, सामाजिक संरचना, और सांस्कृतिक परंपराओं में बड़े पैमाने पर बदलाव आया। वन संसाधनों पर उनके अधिकारों को सीमित या समाप्त कर दिया गया, जिससे उनका पारंपरिक जीवन संघर्षमय हो गया।

4.1 वन अधिकारों का हनन

ब्रिटिश वन नीतियों के तहत 1865 और 1878 के भारतीय वन अधिनियमों ने आदिवासियों के पारंपरिक अधिकारों को पूरी तरह खत्म कर दिया। आरक्षित वनों में प्रवेश, लकड़ी का संग्रहण, और वन उपज के उपयोग पर पूरी तरह प्रतिबंध लगा दिया गया। इन नीतियों के कारण आदिवासी समुदाय जंगलों के संसाधनों का स्वतंत्र रूप से उपयोग नहीं कर पाए, जो उनके जीवन का आधार थे। इससे उनका अस्तित्व खतरे में पड़ गया, क्योंकि उनके पास आजीविका के वैकल्पिक साधन नहीं थे।

4.2 आर्थिक कठिनाइयाँ

वन नियमों के परिणामस्वरूप आदिवासियों की आर्थिक स्थिति तेजी से बिगड़ने लगी। उन्हें शिकार, मछली पकड़ने, वन उपज एकत्र करने और झूम खेती करने से वंचित कर दिया गया। सरकार द्वारा वन संसाधनों का वाणिज्यिक दोहन किया जाने लगा, जबकि आदिवासी समुदायों को जंगलों से निकाला गया या उनके अधिकारों पर प्रतिबंध लगाए गए। इससे उनकी आजीविका पर सीधा असर पड़ा, और कई आदिवासी परिवार गरीबी और भुखमरी का सामना करने लगे। आदिवासी समुदायों के लिए जंगल से मिलने वाले खाद्य पदार्थों, औषधीय पौधों, और अन्य उत्पादों तक पहुँचना कठिन हो गया। इसके कारण उन्हें कृषि मजदूर, खनन मजदूर, या छोटे-मोटे रोजगार की ओर धकेला गया, जो उनकी पारंपरिक आजीविका से पूरी तरह भिन्न था। उनका पारंपरिक आत्मनिर्भर जीवन समाप्त होने लगा, और वे आर्थिक रूप से कमजोर होते गए।

4.3 विस्थापन और सामाजिक ताना-बाना

ब्रिटिश शासन के दौरान वन क्षेत्रों पर सरकारी कब्जा बढ़ा, और आदिवासी समुदायों को जबरन जंगलों से बाहर किया गया। इससे उनका सामाजिक ताना-बाना बिखर गया। कई आदिवासी परिवार विस्थापित हो गए, जिससे उनकी सामुदायिक संरचना और जीवन शैली में बड़ा बदलाव आया। उनके पास सुरक्षित आवास और रोजगार की कमी होने लगी, और वे शहरी या औद्योगिक इलाकों में मजदूरी के लिए पलायन करने पर मजबूर हुए।

4.4 सांस्कृतिक और धार्मिक संकट

जंगल आदिवासियों के सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन का केंद्र थे। जंगलों पर नियंत्रण के साथ उनके धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन पर भी असर पड़ा। आदिवासी त्योहार, पूजा, और पारंपरिक अनुष्ठान जंगलों से जुड़े होते थे, जिन्हें अब करने में कठिनाइयाँ होने लगीं। इससे उनकी सांस्कृतिक पहचान पर भी आघात हुआ। जंगलों से दूरी ने उनके धार्मिक विश्वासों और परंपराओं को कमजोर कर दिया, जो उनकी सामुदायिक भावना और एकता का स्रोत थे।

International Journal of
Advanced Multidisciplinary Scientific Research (IJAMSR) ISSN:2581-4281

4.5 आपराधिक गतिविधियों का आरोप

जंगलों में प्रवेश और वन उपज के संग्रहण पर लगे प्रतिबंधों के चलते, जब आदिवासी लोग अपनी पारंपरिक आजीविका के लिए इन गतिविधियों को जारी रखने का प्रयास करते, तो उन्हें कानून का उल्लंघन करने वाला या अपराधी माना जाता। उन पर जंगलों में अवैध रूप से प्रवेश करने, शिकार करने या लकड़ी काटने के आरोप लगाकर सजा दी जाने लगी। कई आदिवासी नेताओं और समुदायों पर आपराधिक मुकदमे चलाए गए, जिससे उनकी स्थिति और भी बदतर हो गई।

4.6 शोषण और दमन

वन नियमों के कारण आदिवासी समुदायों का शोषण और दमन बढ़ गया। ब्रिटिश सरकार ने जंगलों की निगरानी के लिए पुलिस और वन अधिकारियों को तैनात किया, जो आदिवासियों के साथ अमानवीय व्यवहार करते थे। आदिवासी समुदायों को अपने ही पारंपरिक क्षेत्रों में विदेशी शासन द्वारा नियंत्रित होने की वजह से उत्पीड़न और असमानता का सामना करना पड़ा। ब्रिटिश वन नीतियों के लागू होने से आदिवासी समुदायों का जीवन पूरी तरह बदल गया। उनकी पारंपरिक आजीविका खत्म हो गई, उन्हें विस्थापन, गरीबी, और सामाजिक विघटन का सामना करना पड़ा, और उनकी सांस्कृतिक धरोहर को भी नुकसान पहुँचा। आदिवासी समुदायों ने अपने अधिकारों के लिए संघर्ष किया, लेकिन वन नियमों ने उनके अस्तित्व और स्वतंत्रता को गंभीर रूप से प्रभावित किया।

5. निष्कर्ष

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के दौरान लागू की गई वन नीतियों का झारखंड के आदिवासी समाज पर दीर्घकालिक प्रभाव अत्यधिक गहरा और बहुआयामी रहा। वन नियमों ने न केवल आदिवासी समाज की पारंपरिक आजीविका को बाधित किया, बल्कि उनकी सांस्कृतिक, सामाजिक, और आर्थिक स्थिति को भी बुरी तरह प्रभावित किया। इस प्रभाव के चलते आदिवासी समाज में विस्थापन, शोषण, और हाशिए पर जाने की प्रक्रिया तीव्र हो गई, जिसके परिणामस्वरूप उनकी संघर्षशीलता और आत्मनिर्भरता भी प्रभावित हुई।

5.1 आर्थिक और सामाजिक बदलाव

वन अधिकारों से वंचित किए जाने के बाद आदिवासी समाज की आर्थिक संरचना पूरी तरह बदल गई। पारंपरिक रूप से आत्मनिर्भर आदिवासी समुदायों को अपनी आजीविका के लिए जंगलों पर निर्भरता खत्म करनी पड़ी, जिससे उनकी आर्थिक स्थिति कमजोर हो गई। कृषि मजदूरी, खनन, और छोटे-मोटे रोजगारों पर निर्भरता बढ़ी, जिससे उनकी आत्मनिर्भरता समाप्त हो गई। जंगलों पर सरकारी नियंत्रण के कारण आदिवासियों को जंगल से मिलने वाली खाद्य सामग्री, औषधीय पौधों, और अन्य उपज तक पहुंच नहीं रही, जिससे उन्हें अपनी जरूरतों के लिए बाहरी स्रोतों पर निर्भर होना पड़ा। इसके साथ ही आदिवासी समाज का सामाजिक ताना-बाना भी बिखरने लगा। वन नियमों के कारण जंगलों से विस्थापन के चलते आदिवासी समुदायों का पारंपरिक रहन-सहन और उनके सामाजिक संबंध टूटने लगे। सामूहिकता और समुदायिकता जो आदिवासी समाज की पहचान थी, वह कमजोर हो गई। उनका सामाजिक ढांचा, जिसमें समुदायों के बीच परस्पर सहयोग और समर्थन की भावना थी, धीरे-धीरे विखंडित हो गया।

IJAMSR
International Journal of
Advanced Multidisciplinary Scientific Research (IJAMSR) ISSN:2581-4281

5.2 सांस्कृतिक और धार्मिक क्षति

जंगल आदिवासी समाज की सांस्कृतिक और धार्मिक धरोहर का केंद्र रहे हैं। जंगलों से जुड़ी उनकी धार्मिक आस्थाएँ, देवी-देवताओं की पूजा, और पारंपरिक अनुष्ठानों का महत्व उनके जीवन में बहुत गहरा था। वन नियमों के चलते आदिवासियों की जंगलों तक पहुँच खत्म हो जाने से उनकी धार्मिक और सांस्कृतिक परंपराओं को गंभीर क्षति पहुँची। उनके धार्मिक आयोजन और पर्व, जो जंगलों के साथ जुड़े होते थे, धीरे-धीरे कम होते गए और इसका प्रभाव उनके सांस्कृतिक पहचान पर भी पड़ा। सांस्कृतिक विरासत का यह ह्रास केवल धार्मिक और सामाजिक गतिविधियों तक सीमित नहीं था। आदिवासी कला, शिल्प, और परंपरागत ज्ञान, जो जंगलों से गहराई से जुड़े थे, भी प्रभावित हुए। उनकी पारंपरिक जड़ी-बूटी चिकित्सा पद्धतियाँ, जिनका ज्ञान पीढ़ियों से चला आ रहा था, वन उपज तक पहुँच न होने के कारण धीरे-धीरे विलुप्त होने लगीं।

5.3 राजनीतिक और कानूनी अधिकारों का संघर्ष

औपनिवेशिक वन नीतियों के दीर्घकालिक प्रभावों में से एक महत्वपूर्ण पक्ष आदिवासियों का वन अधिकारों के लिए संघर्ष रहा है। ब्रिटिश काल में प्रारंभ हुए इस संघर्ष ने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी जारी रखा। भारत की स्वतंत्रता के बाद, आदिवासियों ने अपने वन अधिकारों की पुनर्बहाली के लिए विभिन्न आंदोलनों और संघर्षों का सहारा लिया। इसके परिणामस्वरूप 2006 में *अनुसूचित जनजाति और अन्य परंपरागत वन निवासी (वन अधिकारों की मान्यता) अधिनियम* पारित किया गया, जिसने आदिवासी समुदायों के वन अधिकारों को पुनर्स्थापित करने का प्रयास किया। हालांकि, इस कानून के क्रियान्वयन में अब भी कई चुनौतियाँ और बाधाएँ हैं, जिससे आदिवासियों को पूरी तरह से उनके अधिकार नहीं मिल पाए हैं।

5.4 पर्यावरणीय क्षति और वन संरक्षण का संकट

औपनिवेशिक काल में वनों के व्यावसायिक दोहन के कारण जंगलों का अंधाधुंध कटान किया गया। इसके परिणामस्वरूप वनों का क्षरण हुआ और वनस्पति और वन्य जीवों का संतुलन बिगड़ गया। आदिवासी समुदायों को जंगल से बेदखल करने के बाद पर्यावरणीय क्षति और बढ़ी, क्योंकि जंगलों के संरक्षण में उनकी भूमिका महत्वपूर्ण थी। वन संरक्षण की पारंपरिक विधियाँ, जिनका पालन आदिवासी समुदाय करते थे, उनकी बेदखली के बाद समाप्त हो गईं। यह पर्यावरणीय असंतुलन का कारण बना, जो आज भी एक प्रमुख समस्या के रूप में उभर रहा है। ब्रिटिश औपनिवेशिक वन नीतियों का झारखंड के आदिवासी समाज पर दीर्घकालिक प्रभाव न केवल आर्थिक रूप से, बल्कि सांस्कृतिक, सामाजिक और पर्यावरणीय दृष्टिकोण से भी अत्यधिक विनाशकारी रहा। इन नीतियों ने आदिवासी समुदायों की पारंपरिक आजीविका को बाधित किया, उनकी सांस्कृतिक धरोहर को नुकसान पहुँचाया, और उन्हें उनके प्राकृतिक संसाधनों से वंचित कर दिया। हालांकि, आदिवासी समुदायों ने अपने अधिकारों की पुनर्बहाली के लिए संघर्ष किया और अब भी कर रहे हैं, परंतु उनके सामने चुनौतियाँ कम नहीं हुई हैं। आदिवासी समाज की पारंपरिक ज्ञान प्रणालियों और वन संरक्षण के प्रति उनके योगदान को आज भी पुनः मान्यता देने और संरक्षित करने की आवश्यकता है, ताकि उनका अस्तित्व और सांस्कृतिक पहचान बनाए रखी जा सके।

संदर्भ

1. कैन, पीटर जे., और एंथनी जी. हॉपकिंस। "जेंटलमैनली कैपिटलिज्म और विदेशों में ब्रिटिश विस्तार: I. पुरानी औपनिवेशिक व्यवस्था, 1688-1850।" आधुनिक साम्राज्यों का उदय और पतन, खंड III। रूटलेज, 2017. 23-48।
2. सतपथी, बिजयश्री। "आदिवासी अपने विकास में कहां हैं? भारतीय वन कानूनों की एक सदी।" इंटरनेशनल जर्नल ऑफ रूरल मैनेजमेंट 11.1 (2015): 60-74।
3. प्रकाश, राम। "भारत में औपनिवेशिक वन नीति का वन प्रबंधन और विकास (1860-1930)।" इंटरनेशनल जर्नल ऑफ एडवांस्ड रिसर्च इन मैनेजमेंट एंड सोशल साइंसेज 4.4 (2015): 91-99।
4. पटनायक, संजय। "पेसा, वन अधिकार अधिनियम और भारत में आदिवासी अधिकार।" गरीबी निवारण और वनों पर अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन। बैंकॉक। 2007।
5. पारिख, माधुरी। "भारत में वन संरक्षण और भारतीय सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका: एक महत्वपूर्ण विश्लेषण।" आईओएसआर जर्नल ऑफ ह्यूमैनिटीज एंड सोशल साइंस (आईओएसआरजेएचएसएस) 13.4 (2013): 58.
6. टॉरेस-रोजो, जुआन मैनुअल, राफेल मोरेनो-सांचेज़, और मार्टिन अल्फोंसो मेंडोज़ा-ब्रिसेनो। "मेक्सिको में सतत वन प्रबंधन।" वर्तमान वानिकी रिपोर्ट 2 (2016): 93-105।
7. मलिक, सृष्टि, और रवि शरण दीक्षित। "औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक काल में पर्यावरण प्रतिरोध के बीज का पता लगाना। 1860 के दशक से 1970 के दशक तक।" पर्यावरण नैतिकता 71.6 (2020) ।
8. मापेड्ज़ा, एवरिस्टो। "औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक ज़िम्बाब्वे में वानिकी नीति: निरंतरता और परिवर्तन।" जर्नल ऑफ़ हिस्टोरिकल ज्योग्राफी 33.4 (2007): 833-851।
9. बोस, पूरबी, बास आर्ट्स, और हान वैन डिजक। "'वन शासन': भारत में वन-निर्भर 'अनुसूचित जनजातियों' के विषय-निर्माण की वंशावली।" भूमि उपयोग नीति 29.3 (2012): 664-673।
10. कुमार, वीएम रवि। "औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक दक्षिण भारत में सामुदायिक वन प्रबंधन: नीति और व्यवहार।" साउथ एशिया रिसर्च 32.3 (2012): 257-277.
11. ग्रोव, रिचर्ड एच. "औपनिवेशिक संरक्षण, पारिस्थितिक आधिपत्य और लोकप्रिय प्रतिरोध: एक वैश्विक संश्लेषण की ओर।" साम्राज्यवाद और प्राकृतिक दुनिया। मैनचेस्टर यूनिवर्सिटी प्रेस, 2017. 15-50.

INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED MULTIDISCIPLINARY SCIENTIFIC RESEARCH (IJAMSR) ISSN: 2581-4281
www.ijamsr.com
https://doi.org/10.31426/ijamsr
https://doi.org/10.31426/ijamsr.2023.6.12.6961

Certificate of Publication

Dear Author(s) : संध्या लकड़ा

रिसर्च स्कॉलर, वाईबीएन यूनिवर्सिटी, रांची

It is indeed our pleasure to inform you that your Article titled:

औपनिवेशिक नीतियां और स्वदेशी प्रतिरोध: झारखंड में आदिवासी आजीविका पर ब्रिटिश वन नियमों के प्रभाव का विश्लेषण

has been published in our peer reviewed and referred International Journal of Advanced Multidisciplinary Scientific Research (IJAMSR) Volume 6, Issue 12, December 2023

Verification: Scan QR code and see the Article on the DOI website

Editor-in-Chief
www.ijamsr.com

Engineering, Life Sciences, Health Sciences, Physical Sciences, Chemical Sciences, Social Sciences, Humanities & Management

IJAMSR

INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED MULTIDISCIPLINARY SCIENTIFIC RESEARCH (IJAMSR) ISSN: 2581-4281

www.ijamsr.com

https://doi.org/10.31426/ijamsr

https://doi.org/10.31426/ijamsr.2023.6.12.6961

Certificate of Publication

Dear Author(s) : डॉ सुस्मिता महापात्रा

एसोसिएट प्रोफेसर एवं एचओडी , इतिहास विभाग, वाईबीएन विश्वविद्यालय, रांची

It is indeed our pleasure to inform you that your Article titled:

औपनिवेशिक नीतियां और स्वदेशी प्रतिरोध: झारखंड में आदिवासी आजीविका पर ब्रिटिश वन नियमों के प्रभाव का विश्लेषण

has been published in our peer reviewed and referred International Journal of Advanced Multidisciplinary Scientific Research (IJAMSR) Volume 6, Issue 12, December 2023

IJAMSR

Editor-in-Chief

www.ijamsr.com

Verification: Scan QR code and see the Article on the DOI website.

Engineering, Life Sciences, Health Sciences, Physical Sciences, Chemical Sciences, Social Sciences, Humanities & Management

झारखंड में आदिवासी संघर्ष औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक वन अधिकार आंदोलन

संध्या लकड़ा
रिसर्च स्कॉलर, वाईबीएन यूनिवर्सिटी, रांची।

डॉ सुस्मिता महापात्रा
एसोसिएट प्रोफेसर एवं एचओडी,
इतिहास विभाग, वाईबीएन विश्वविद्यालय, रांची

सारांश:

झारखंड में आदिवासी संघर्षों की परंपरा का इतिहास बहुत पुराना और जटिल है, जो मुख्य रूप से वन अधिकारों से जुड़ा हुआ है। आदिवासी समुदायों का जीवन जंगलों और प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर था और उनकी संस्कृति, पहचान और अस्तित्व इन संसाधनों से जुड़े थे। ब्रिटिश साम्राज्य के दौरान, आदिवासी समुदायों को वनों पर उनके पारंपरिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया, जिससे कई संघर्षों की शुरुआत हुई, जैसे कि उलगुलान आंदोलन। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी आदिवासी समुदायों को अपने पारंपरिक अधिकारों की रक्षा में समस्याओं का सामना करना पड़ा। 2006 में वन अधिकार अधिनियम लागू किया गया, जिसने आदिवासियों को उनके पारंपरिक अधिकारों की आधिकारिक मान्यता दी, लेकिन यह एक लंबी कानूनी प्रक्रिया थी। आज भी आदिवासी समुदायों का संघर्ष जारी है, क्योंकि उनके लिए जंगल सिर्फ एक संसाधन नहीं, बल्कि अस्तित्व और संस्कृति का अभिन्न हिस्सा है।

कुंजी शब्द: आदिवासी संघर्ष, वन अधिकार, उलगुलान आंदोलन

निष्कर्ष

झारखंड में आदिवासी संघर्षों का इतिहास औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक काल में एक लंबा और जटिल सफर रहा है, जो जंगलों और प्राकृतिक संसाधनों के अधिकार से जुड़ा हुआ है। आदिवासी समुदायों ने अपनी भूमि और वनों पर पारंपरिक अधिकारों के लिए सशक्त संघर्ष किए हैं। ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा वनों पर नियंत्रण करने से आदिवासियों के पारंपरिक अधिकारों पर गहरा असर पड़ा, और उनके संघर्षों का मुख्य उद्देश्य जंगलों के साथ अपनी सांस्कृतिक और आध्यात्मिक पहचान की रक्षा करना था। स्वतंत्रता के बाद भी, आदिवासी समुदायों को वन नीतियों की समस्याओं का सामना करना पड़ा, और यह संघर्ष जारी है। वन अधिकार अधिनियम 2006 ने आदिवासियों को कुछ अधिकार दिए, लेकिन यह कानूनी प्रक्रिया लंबी और जटिल थी। आदिवासी समुदायों के लिए जंगल केवल संसाधन नहीं, बल्कि उनकी संस्कृति और अस्तित्व का अहम हिस्सा हैं, और यह संघर्ष वर्तमान में भी जीवित है।

परिचय

झारखंड में आदिवासी संघर्षों की एक लंबी और जटिल परंपरा रही है, जो औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक काल में वन अधिकारों से जुड़ी हुई है। आदिवासी समुदायों का जीवन सदियों से जंगलों और प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर रहा है, और उनका पारंपरिक समाज इन संसाधनों के संरक्षण और उपयोग के लिए विकसित हुआ था। औपनिवेशिक काल में ब्रिटिश साम्राज्य ने झारखंड के जंगलों को वाणिज्यिक दृष्टिकोण से नियंत्रित किया, जिससे आदिवासी समुदायों के पारंपरिक वन अधिकारों पर गहरा प्रभाव पड़ा। ब्रिटिश शासन ने वन विभाग की स्थापना की

और वनों के संरक्षण के नाम पर आदिवासी समुदायों को उनके जल, जंगल और जमीन से बेदखल करना शुरू कर दिया। इस दौरान आदिवासी समुदायों ने कई संघर्षों का सामना किया, जैसे कि **उलगुलान** (1855-56) आंदोलन, जिसमें सिदो और कान्हू जैसे आदिवासी नेताओं ने ब्रिटिश शासन के खिलाफ विद्रोह किया। इन संघर्षों का मुख्य कारण वनों पर आदिवासियों का पारंपरिक अधिकार छीनना और उन्हें अपने ही भूमि पर घेरना था। आदिवासी समाज के लिए जंगल सिर्फ आजीविका का स्रोत नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और आध्यात्मिक महत्व भी रखता था। इस संघर्ष में आदिवासी नेताओं ने न केवल अपनी भूमि और वन अधिकारों के लिए बल्कि अपनी पहचान और सांस्कृतिक विरासत की रक्षा के लिए भी आवाज उठाई। स्वतंत्रता के बाद भी, झारखंड के आदिवासी समुदायों को औपनिवेशिक व्यवस्था से विरासत में मिली समस्याओं का सामना करना पड़ा। हालांकि, भारतीय स्वतंत्रता के बाद आदिवासी अधिकारों की स्थिति में कुछ सुधार हुआ, लेकिन राज्य और केंद्र सरकारों की वन नीतियों ने आदिवासियों के पारंपरिक अधिकारों की रक्षा में अक्सर बाधाएं उत्पन्न की। 1980 और 1990 के दशकों में सरकार ने कुछ वन नीतियों में बदलाव की दिशा में कदम उठाए, लेकिन आदिवासियों का संघर्ष जारी रहा। **वन अधिकार अधिनियम, 2006** के अंतर्गत आदिवासियों को उनके पारंपरिक वन अधिकारों की आधिकारिक मान्यता दी गई, लेकिन यह भी एक लंबी कानूनी प्रक्रिया का हिस्सा था, और इसका प्रभाव क्षेत्रीय और स्थानीय स्तर पर भिन्न था। इस प्रकार, औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक काल में झारखंड के आदिवासी समुदायों का संघर्ष उनके जीवन के मूलभूत अधिकारों, विशेषकर जंगल और भूमि के अधिकारों की रक्षा के लिए था, और यह संघर्ष आज भी जारी है, क्योंकि आदिवासी समुदायों के लिए जंगल केवल एक संसाधन नहीं, बल्कि उनके अस्तित्व और संस्कृति का अभिन्न हिस्सा हैं।

समीक्षा

मैक्सवेल, डेविड (2000): यह अध्ययन जिम्बाब्वे असेंबली ऑफ गॉड, अफ्रीका (ZAOGA) के माध्यम से जिम्बाब्वे में पेंटिकोस्टल आंदोलन और राजनीति के बीच संबंधों की जांच करता है। शोध ने औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक काल में ZAOGA के राज्य और राजनीति के साथ बदलते संबंधों का विश्लेषण किया। शुरू में यह आंदोलन राजनीति से दूर रहा और संसाधनों को जुटाने के लिए श्वेत रोडेशियन और अमेरिकी संपर्कों का उपयोग किया, लेकिन स्वतंत्रता के बाद सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और विकास को अपनाया। हालांकि, अमेरिकी धार्मिक अधिकार और विद्रोही नेता डेबोनिंग सिथोले से जुड़े विवादों के कारण ZANU/PF से इसके संबंध तनावपूर्ण हो गए। 1990 के दशक में ZAOGA और ZANU/PF ने पारस्परिक वैधता हासिल की, लेकिन अभिजात वर्ग के इस गठजोड़ ने स्थानीय विधानसभाओं की लोकतांत्रिक संस्कृति के साथ टकराव पैदा किया। अध्ययन से यह भी पता चला कि टाउनशिप-आधारित विधानसभाओं में वैकल्पिक पेंटिकोस्टल प्रथाएं प्रगतिशील नागरिक समाज और राजनीति के साथ सहजीवन में हैं। शोध ने निष्कर्ष निकाला कि पेंटिकोस्टलवाद जिम्बाब्वे की राजनीति को नवीनीकृत कर सकता है, लेकिन साथ ही इसे व्यापक समाज की बाहरी ताकतों द्वारा नवीनीकरण की आवश्यकता है।

कार्लसन, बेंग्ट जी. (2001) ने भारत के पूर्वोत्तर क्षेत्र में आदिवासी समुदायों के बीच "जातीयता" या समुदाय आधारित राजनीति के जटिल सवालों पर शोध किया। अध्ययन में उन्होंने विशेष रूप से मूल निवासियों के आत्मनिर्णय के अधिकार की जांच की, जिसे अधिकांश स्वदेशी संगठनों द्वारा महत्वपूर्ण माना गया है और जो संयुक्त राष्ट्र के स्वदेशी अधिकारों की घोषणा का केंद्रीय विषय है। इस अधिकार को स्वायत्तता के विभिन्न रूपों में परिभाषित किया गया है, जो पूर्वोत्तर भारत के सभी संगठित समुदायों के एजेंडे में प्रमुख है। शोध में समकालीन बोडोलैंड आंदोलन, नागा संप्रभुता संघर्ष और राभा समुदाय की लामबंदी जैसे कई मामलों का विश्लेषण किया गया। उन्होंने बहु-जातीय संदर्भों में इन मांगों को व्यवहारिक राजनीतिक समाधानों में बदलने की कठिनाइयों को रेखांकित किया और भारत में स्वदेशी राजनीति की प्रमुख चुनौतियों को उजागर किया।

कॉरब्रिज, स्टुअर्ट, और संजय कुमार (2002) ने झारखंड के रांची जिले में कटहल के पेड़ों की कटाई से जुड़ी प्रक्रियाओं और उनकी सामाजिक-राजनीतिक जटिलताओं पर एक केस स्टडी प्रस्तुत की। इस शोध में बताया गया कि कैसे एक आदिवासी ग्रामीण को अपनी निजी भूमि पर कटहल के 10 पेड़ों को काटने और उन्हें बेचने के लिए सरकारी अनुमति लेने में भ्रष्टाचार और देरी का सामना करना पड़ा। यह अध्ययन राज्य और समुदाय के बीच हितों की मिलीभगत को उजागर करता है। शोध में यह भी दिखाया गया कि 1990 के दशक में लकड़ी व्यापार के नियमन के कारण व्यवस्था में बदलाव आया और कटहल की कीमतें बढ़ीं। शोध के दूसरे भाग में, लेखक इन घटनाओं को पर्यावरण इतिहास, सामुदायिक संपत्ति व्यवस्था, वन विभाग की संगठनात्मक संस्कृति, पर्यावरणवाद की राजनीति और सशक्तिकरण के अर्थों के संदर्भ में पुनः विश्लेषित करते हैं।

चड्ढा, आशीष (2003) ने अपने अध्ययन में भारत में सरकारी मंजूरी के साथ खुल रहे टायर, ऑटोमोबाइल और पेट्रोकेमिकल संयंत्रों के प्रभावों का विश्लेषण किया। उन्होंने बताया कि इन परियोजनाओं ने उड़ीसा, तमिलनाडु और आंध्र प्रदेश के ग्रामीण इलाकों में झींगा पालन के लिए धान के खेतों में पानी भरने से परिदृश्य को अपरिवर्तनीय रूप से बदल दिया। भारत के तटीय क्षेत्रों में पारंपरिक मछुआरों को मशीनी मछली पकड़ने वाली नावों द्वारा उनके मछली पकड़ने के जल स्रोतों का दोहन किए जाने से अपनी आजीविका के लिए नए व्यवसाय तलाशने को मजबूर होना पड़ रहा है। मशीनी नावों की असंवहनीय मछली पकड़ने की प्रथाओं ने न केवल उनकी नियमित पकड़ को समाप्त किया बल्कि पारंपरिक मछुआरों को पूरी तरह बेदखल करने का खतरा भी उत्पन्न किया। उन्होंने यह भी पाया कि इन विकास परियोजनाओं से विस्थापित लोगों को उचित पुनर्वास या विकास के लाभ नहीं मिले। उदाहरण स्वरूप, मध्य प्रदेश के जबलपुर में बरघी बांध से विस्थापित किसान आज झुग्गियों में रहकर रिक्शा चलाने को मजबूर हैं, जबकि पहले वे आत्मनिर्भर किसान थे।

सिन्हा-केरखॉफ, कथिंका (2004) के इस लेख में 1947 में ब्रिटिश भारत के विभाजन की दो प्रकार की स्मृतियों पर चर्चा की गई है। पहली स्मृति "विभाजन स्मृति" के रूप में पहचानी गई है, जो धार्मिक आधार पर भारत और पाकिस्तान के दो राष्ट्रों के निर्माण को मजबूत करती है, और दूसरी स्मृति झारखंड के मुसलमानों की है, जो विभाजन की घटनाओं को क्षेत्रीय पहचान के आधार पर अनुभव करते हैं। 2000-2001 में झारखंड में किए गए साक्षात्कारों के आधार पर, लेखक ने दिखाया कि इन मुसलमानों की स्मृतियां धर्म के बजाय क्षेत्रीय विविधता को उजागर करती हैं, जिससे आधिकारिक विभाजन इतिहास को चुनौती मिलती है। लेख इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि इन स्मृतियों को विभाजन के इतिहास में शामिल करना आवश्यक है, क्योंकि ये विभाजन स्मृति की एकतरफा व्याख्या के खतरों को चुनौती देती हैं और आधिकारिक इतिहास को समृद्ध व रूपांतरित कर सकती हैं।

मुंडू, बी.जे. (2006) के शोध प्रबंध ने झारखंड, भारत के आदिवासियों पर ध्यान केंद्रित करते हुए उनकी पारंपरिक सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं और सामूहिक अधिकारों के मुद्दों का अध्ययन किया। यह आदिवासियों की ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रशासनिक संरचनाओं को उनकी पहचान और अधिकारों की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत करता है। इस शोध ने आदिवासियों की प्रथागत परंपराओं की प्रासंगिकता और उनके आधुनिक राष्ट्र-राज्य के साथ संघर्ष को विश्लेषित किया। अध्ययन में अनुभवजन्य डेटा और केस स्टडी पद्धति का उपयोग करते हुए, आदिवासियों की पारंपरिक प्रथाओं के क्षरण, राज्य की भूमिका और सामुदायिक पहचान के मुद्दों को गहराई से समझा गया। इसमें आदिवासियों के राजनीतिक जुड़ाव, कानूनी प्रणाली के प्रभाव, और उनके सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन पर प्रकाश डाला गया। अंततः, यह शोध आदिवासियों की परंपराओं और पहचान को संरक्षित करने के लिए आगे अनुसंधान के लिए क्षेत्रों की सिफारिश करते हुए निष्कर्ष प्रदान करता है।

सरवनन और वेलायुथम (2009) ने स्वतंत्रता के बाद की भारतीय राजनीति और उसकी नीतियों द्वारा आदिवासियों और पर्यावरण पर पड़े प्रभावों का अध्ययन किया। उन्होंने पचास वर्षों की भारतीय योजना के बावजूद आदिवासी समुदायों की लगातार बिगड़ती स्थिति और उनके विकास में आई रुकावट को रेखांकित किया। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से, लेख ने आदिवासी विकास योजना और आर्थिक नीतियों के प्रति राजनीतिक अंतर्धाराओं का विश्लेषण किया। अनुसूचित जनजाति और अन्य पारंपरिक वनवासी (वन अधिकारों की मान्यता) अधिनियम, 2006 के आदिवासी विकास और पर्यावरणीय प्रभावों का विस्तार से अध्ययन करते हुए, उन्होंने तर्क दिया कि यह कानून न तो आदिवासियों की आर्थिक उन्नति में सहायक होगा और न ही पर्यावरणीय संरक्षण को बढ़ावा देगा। इसके बजाय, यह गैर-आदिवासी हस्तक्षेप को वैधता प्रदान कर सकता है, जिससे आदिवासी समुदायों और पर्यावरण के लिए गंभीर नकारात्मक परिणाम हो सकते हैं।

अग्रवाल, आशीष (2011) ने अपने अध्ययन में यह बताया कि REDD+ के तेजी से विकास के बावजूद, इसके प्रभावों के बारे में बहुत कम अनुभवजन्य साक्ष्य उपलब्ध हैं, खासकर यह कि यह मौजूदा शासन तंत्रों के साथ कैसे अंतःक्रिया करता है और लोगों के अधिकारों को कैसे प्रभावित करता है। भारत में वन अधिकार अधिनियम, 2006 (FRA) के कार्यान्वयन पर विचार करते हुए, उन्होंने इस अंतःक्रिया के बारे में दिलचस्प अंतर्दृष्टि प्रदान की। FRA के तहत, स्वतंत्र भारत में पहली बार वन संसाधनों पर लोगों के अधिकारों को व्यापक रूप से मान्यता दी जा रही है, हालांकि कार्यान्वयन में कई चुनौतियां अभी भी मौजूद हैं। इसने राज्य और लोगों के बीच वन संसाधनों के उपयोग और प्रबंधन को लेकर नए संबंध स्थापित किए हैं। 30 अप्रैल 2011 तक, भारत में लगभग 1.169 मिलियन दावों को मान्यता दी गई, जो देश के 3% वन क्षेत्र को कवर करते हैं। अध्ययन में यह भी उल्लेख किया गया कि भारत REDD+ को वार्ता के एक साधन के रूप में देखता है, जबकि नागरिक समाज समूह इसके विरोध में हैं, क्योंकि उन्हें डर है कि REDD+ सरकार को FRA के कार्यान्वयन को विफल करने का अवसर दे सकता है। इस पर जारी संवाद और पुनर्वार्ता यह दर्शाते हैं कि REDD+ के प्रभावों को लेकर राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता उभर रही है।

पामुंगकास, काह्यो (2015) के शोधपत्र में उत्तर-औपनिवेशिक ढांचे का उपयोग करते हुए दक्षिण-पूर्व एशिया के अध्ययन में एक नया दृष्टिकोण प्रस्तावित किया गया है। इस अध्ययन में ज्ञान के समाजशास्त्र पर आधारित एक ढांचा विकसित किया गया है, जो विज्ञान, विचारधारा और प्रवचन के बीच के द्वंद्वात्मक संबंधों का विश्लेषण करता है। उत्तर-औपनिवेशिक अध्ययन सार्वभौमिकता की अवधारणा की आलोचना करते हुए यह मानता है कि वैज्ञानिक कथन किसी समाज का अकेला और निर्विवाद सत्य नहीं हो सकता, बल्कि यह उन लेखकों द्वारा निर्मित किया जाता है जो उस कथन का निर्माण और दावा करते हैं। इस शोध में औपनिवेशिक प्रवचन, सबाल्टर्न, नकल और संकरता जैसी अवधारणाओं का उपयोग करके दक्षिण-पूर्व एशियाई संस्कृति की अधिक व्यापक समझ विकसित करने का प्रयास किया गया है। इसके साथ ही, यह अध्ययन यूरोप और अमेरिका के सामाजिक सिद्धांतों के आधिपत्य को चुनौती देने के लिए उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धांतों के विकास का भी समर्थन करता है, जो सामाजिक विज्ञानों के भीतर छिपे हुए हितों को उजागर करता है।

रॉय, अनिरबन (2017) ने भारतीय वन प्रबंधन के ऐतिहासिक परिवर्तनों की चर्चा की है। उन्होंने औपनिवेशिक काल में वनवासियों के पारंपरिक अधिकारों के उल्लंघन और वन संसाधनों पर उपनिवेशी हितों की प्राथमिकता को उजागर किया। इसके साथ ही, 2006 के वन अधिकार अधिनियम के तहत वनवासियों को सशक्त बनाने और उनके द्वारा किए गए पारंपरिक योगदान को मान्यता देने की दिशा में एक महत्वपूर्ण बदलाव का उल्लेख किया। यह आलेख औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक काल में लागू वन नीतियों की समीक्षा करता है और वन अधिकार अधिनियम के कुछ प्रमुख प्रावधानों के SWOT विश्लेषण को प्रस्तुत करता है, जो वनवासियों को सामाजिक और कानूनी सशक्तिकरण की दिशा में एक कदम आगे बढ़ाते हैं।

घोष, मनोरंजन और सोमनाथ घोषाल (2019) ने भारत के पश्चिम बंगाल राज्य में औपनिवेशिक वानिकी पर अभिलेखीय डेटा और सूचनाओं की पुनः जांच की। अध्ययन का मुख्य उद्देश्य 1757 से 1947 तक उप-हिमालयी पश्चिम बंगाल में वृक्षारोपण गतिविधियों (जैसे साल, चाय, और सिनकोना) और टोंग्या प्रक्रिया के माध्यम से औपनिवेशिक वन परिदृश्य में हुए परिवर्तनों को समझना था। शोध में यह पाया गया कि ब्रिटिश औपनिवेशिक शासकों ने पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में एक समान वन प्रबंधन मॉडल लागू किया, जिससे पारंपरिक जंगलों के स्थान पर उच्च मूल्य वाले वृक्षों जैसे सागौन और महोगनी के रोपण को प्राथमिकता दी गई। 1886 में, पहली बार बंगाल प्रेसीडेंसी में लगभग 15,5,399.29 वर्ग किमी क्षेत्र को आरक्षित वन के रूप में चिन्हित किया गया, जो 'वैज्ञानिक' वन प्रबंधन की शुरुआत थी। टोंग्या प्रणाली के अंतर्गत, बंगाल के हिमालयी क्षेत्र में 168 वन गांवों की स्थापना हुई। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद, वन संसाधनों के अधिकारों की मांग करने वाले नागरिक समाज आंदोलनों, जैसे जंगल महल आंदोलन, ने पश्चिम बंगाल में विशेष रूप से उप-हिमालयी क्षेत्रों में संघर्ष पैदा किया। इसके परिणामस्वरूप, वन विभाग द्वारा वन संसाधनों के अत्यधिक शोषण और व्यापारिक एकाधिकार ने इस क्षेत्र के लोगों के साथ ऐतिहासिक अन्याय किया।

"सेनगुप्ता, सोहिनी, और मनीष के. झा (2020) के अध्ययन में सामाजिक नीति के माध्यम से गरीबी और असमानता को कम करने के प्रयासों पर चर्चा की गई है। इस अध्ययन में यूरोपीय देशों द्वारा सामाजिक नीति को समानता और पुनर्वितरण के उपकरण के रूप में अपनाने और भारतीय संदर्भ में इसके प्रभावों का विश्लेषण किया गया है। विशेष रूप से, स्वतंत्रता के बाद भारत ने गरीबी और अकाल के प्रभावों को कम करने के लिए निवारक उपायों पर ध्यान केंद्रित किया। हालांकि, आर्थिक विकास और गरीबी में कमी के बावजूद, लक्षित गरीबी निवारण कार्यक्रमों पर निर्भरता बनी रही। लेख में अनुसूचित जनजाति और अन्य पारंपरिक वन निवासी (एफआरए 2006) अधिनियम के माध्यम से नागरिक समाज द्वारा वकालत किए गए कानूनी ढांचे के अंतर्गत सामाजिक न्याय और कल्याण प्रावधानों के सफलताओं और असफलताओं का विश्लेषण किया गया है। निष्कर्ष में यह पाया गया कि एफआरए में सामाजिक न्याय की समझौतापूर्ण व्याख्या ने राज्य और स्थानीय समुदाय के हितों के बीच खाई को और बढ़ा दिया है।"

बारा, जोसेफ (2020) ने अपने अध्याय में छोटा नागपुर के आदिवासी क्षेत्र में ब्रिटिश औपनिवेशिक शिक्षा के विकास की धीमी और असमान प्रक्रिया की जांच की। उन्होंने यह दिखाया कि इस शिक्षा प्रणाली की शुरुआत 1839 में हुई थी, लेकिन इसे उपनिवेशी सरकार का समर्थन मिलते हुए भी इसे सही तरीके से लागू नहीं किया गया। इस प्रणाली को उन्नीसवीं सदी के अंत और बीसवीं सदी की शुरुआत में 'बर्बर' आदिवासियों को 'सभ्य' बनाने के औपनिवेशिक एजेंडे से प्रोत्साहन मिला था, जिसके लिए मिशनरी सेवाओं का सहारा लिया गया। हालांकि मिशनरी आदिवासियों के प्रति अपने मानवतावादी दृष्टिकोण के बावजूद, मिशन क्षेत्रों की समस्याओं और पूर्वाग्रही दृष्टिकोणों के कारण उनका प्रयास सफल नहीं हो सका। नतीजतन, आदिवासियों को अपनी शर्तों पर एक दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली मिली, और वे अन्य क्षेत्रों की तुलना में इस प्रणाली को विकसित करने में असमर्थ रहे। इस अध्याय ने इन सभी समस्याओं का विश्लेषण किया और इस क्षेत्र में औपनिवेशिक शिक्षा की वास्तविक स्थिति को उजागर किया।

दास, बापन कुमार और दिनेश नारायण वर्मा (2021) ने ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इस क्षेत्र में ईस्ट इंडिया कंपनी के आगमन के बाद पहाड़िया, संथाल और अन्य स्थानीय समुदायों के विरोध का विश्लेषण किया। उनका शोध दर्शाता है कि अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इन समुदायों ने विदेशी शासन का विरोध करना शुरू किया और उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान उनका संघर्ष जारी रहा। विशेष रूप से संताल विद्रोह (1855-1856) के दौरान संथालों ने सिदो, कान्हू और अन्य नेताओं के नेतृत्व में विदेशी शासन का विरोध किया। शोध में यह भी उल्लेख किया गया है कि, मुगलों के शासनकाल के दौरान, पहाड़िया समुदाय ने अपने उग्र नायकों के नेतृत्व में हिंदू, मुस्लिम और मुग़ल शासकों

का विरोध किया था और अपने अधिकारों की रक्षा की थी। इसके बावजूद, उन्होंने अपनी ज़मीनों का अधिकांश हिस्सा खो दिया था, लेकिन कभी भी विदेशी शासकों के सामने आत्मसमर्पण नहीं किया। इस शोध में यह स्पष्ट होता है कि उन्नीसवीं सदी आदिवासी विरोध और संघर्ष के संदर्भ में संताल परगना के आदिवासी इतिहास में एक निर्णायक दशक था।

कुमार, राकेश (2022) द्वारा किए गए अध्ययन का उद्देश्य झारखंड के जनजातीय समाज और संस्कृति में आए बदलावों का ऐतिहासिक और मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण से विश्लेषण करना था। शोध में द्वितीयक स्रोतों और गुणात्मक विधियों का उपयोग किया गया, जिसमें आदिवासी समाज की पारंपरिक भौतिक संस्कृति, जो प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व पर आधारित थी, का अध्ययन किया गया। शोध में यह दर्शाया गया कि 16वीं से 20वीं शताब्दी के बीच बाहरी लोगों और घुसपैठियों द्वारा आदिवासी समाज में घुसपैठ की गई, जिन्होंने नए नियम और कानून थोपे, और संस्कृतिकरण की प्रक्रिया शुरू की। इस दौरान आदिवासी लोगों के पारंपरिक आर्थिक संसाधनों का शोषण किया गया, जिससे उनके समाज और संस्कृति में महत्वपूर्ण बदलाव आए। यह अध्ययन वर्तमान में भी जारी परिवर्तन प्रक्रियाओं की ओर इशारा करता है।

आदिवासी संघर्ष

झारखंड में आदिवासी संघर्षों की परंपरा बहुत पुरानी और जटिल रही है, जो विशेष रूप से जंगलों और प्राकृतिक संसाधनों से जुड़े रहे हैं। आदिवासी समुदायों का जीवन सदियों से वनों पर निर्भर रहा है, और उनका पारंपरिक समाज इन संसाधनों के संरक्षण और उपयोग के लिए विशेष रूप से विकसित हुआ था। इन संघर्षों का मुख्य उद्देश्य जंगलों पर अपने पारंपरिक अधिकारों की रक्षा करना था, जिससे उनका सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन प्रभावित न हो।

औपनिवेशिक काल

ब्रिटिश साम्राज्य के दौरान, झारखंड के जंगलों का वाणिज्यिक उपयोग बढ़ा और आदिवासियों के पारंपरिक वन अधिकारों को कम किया गया। ब्रिटिश शासन ने वनों पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए वन विभाग की स्थापना की, जिसका उद्देश्य वनों से लकड़ी और अन्य संसाधनों का व्यापार करना था। इसके परिणामस्वरूप, आदिवासी समुदायों को उनके जल, जंगल और जमीन से बेदखल कर दिया गया। इस दौरान कई संघर्षों और विद्रोहों का सामना करना पड़ा, जैसे कि **उलगुलान** (1855-56) आंदोलन, जिसमें आदिवासी नेताओं जैसे सिदो और कान्हू ने ब्रिटिश शासन के खिलाफ अपनी आवाज उठाई। इन संघर्षों का मुख्य कारण आदिवासी समाज के लिए उनके पारंपरिक अधिकारों की रक्षा था।

संस्कृति और पहचान

झारखंड के आदिवासी समुदायों के लिए जंगल केवल आजीविका का स्रोत नहीं था, बल्कि उनका सांस्कृतिक और आध्यात्मिक महत्व भी था। आदिवासियों का जीवन इन जंगलों के साथ गहरे रूप से जुड़ा हुआ था, और इनका मानना था कि जंगल उनके अस्तित्व का अभिन्न हिस्सा हैं। औपनिवेशिक शासन के तहत वनों पर नियंत्रण का आदिवासी संस्कृति पर गहरा प्रभाव पड़ा, और आदिवासी नेताओं ने न केवल अपनी भूमि और वन अधिकारों के लिए बल्कि अपनी पहचान और सांस्कृतिक विरासत की रक्षा के लिए भी संघर्ष किया। इस संघर्ष में आदिवासी समुदायों ने अपनी पारंपरिक परंपराओं और रीति-रिवाजों को बचाए रखने के लिए आंदोलन किए।

उत्तर-औपनिवेशिक संघर्ष

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी, झारखंड के आदिवासी समुदायों को औपनिवेशिक काल से विरासत में मिली समस्याओं का सामना करना पड़ा। भारत की स्वतंत्रता के बाद भी, आदिवासी अधिकारों की स्थिति में कोई महत्वपूर्ण सुधार नहीं हुआ, और राज्य और केंद्र सरकारों की वन नीतियों ने आदिवासियों के पारंपरिक अधिकारों की रक्षा में कई बार बाधाएं उत्पन्न कीं। इस समय भी आदिवासी समुदायों ने अपने अधिकारों की रक्षा के लिए संघर्ष जारी रखा। 1980 और 1990 के दशकों में सरकार ने वन नीतियों में सुधार की दिशा में कदम उठाए, लेकिन आदिवासी समुदायों के संघर्ष में कमी नहीं आई।

वन अधिकार अधिनियम, 2006

1980 और 1990 के दशकों में वन अधिकारों के संदर्भ में कुछ सुधारात्मक कदम उठाए गए, और **वन अधिकार अधिनियम, 2006** को लागू किया गया। इस कानून के अंतर्गत आदिवासियों को उनके पारंपरिक वन अधिकारों की आधिकारिक मान्यता दी गई। हालांकि, यह प्रक्रिया लंबी और जटिल थी, और इसका प्रभाव क्षेत्रीय और स्थानीय स्तर पर भिन्न था। फिर भी, इस कानून ने आदिवासी समुदायों को अपने जल, जंगल और जमीन पर अधिकार स्थापित करने में मदद की। यह संघर्ष आज भी जारी है, क्योंकि आदिवासी समुदायों के लिए जंगल सिर्फ एक संसाधन नहीं, बल्कि उनके अस्तित्व और संस्कृति का अभिन्न हिस्सा है।

संदर्भ

1. मैक्सवेल, डेविड. "'डॉन से पहले कॉकरेल को पकड़ो': पोस्ट-कोलोनियल जिम्बाब्वे में पेंटेकोस्टलिज्म और राजनीति।" *अफ्रीका*, खंड 70, संख्या 2, 2000, पृष्ठ 249-277.
2. कार्लसन, बेंग्ट जी. "स्वदेशी राजनीति: सामुदायिक गठन और पूर्वोत्तर भारत में स्वदेशी लोगों का आत्मनिर्णय के लिए संघर्ष।" संस्कृति *और शक्ति में वैश्विक अध्ययन* 8.1 (2001): 7-45.
3. कॉरब्रिज, स्टुअर्ट, और संजय कुमार। "समुदाय, भ्रष्टाचार, परिदृश्य: वृक्ष व्यापार की कहानियाँ।" *राजनीतिक भूगोल* 21.6 (2002): 765-788।
4. चड्डा, आशीष। "विस्थापन की शारीरिक रचना: सरदार सरोवर परियोजना के कारण नर्मदा घाटी में आदिवासियों के अपने पारंपरिक परिदृश्य से विस्थापन पर एक अध्ययन।" *परिदृश्य का पुरातत्व और नृविज्ञान*। रूटलेज, 2003. 175-187।
5. सिन्हा-केरखॉफ, कथिंका। "अंतर की आवाज़ें: विभाजन की स्मृति और झारखंड, भारत में मुसलमानों की स्मृतियाँ।" *क्रिटिकल एशियन स्टडीज़* 36.1 (2004): 113-142।
6. मुंडू , बी.जे. (2006). *स्वदेशी परंपराओं के भविष्य पर: झारखंड, भारत के आदिवासियों का मामला* (मास्टर थीसिस, यूनिवर्सिटी ट्रोम्सो)।
7. सरवनन, वेलायुथम । "वन अधिकार अधिनियम, 2006 की मान्यता की राजनीतिक अर्थव्यवस्था: पर्यावरण और आदिवासी विकास के बीच संघर्ष।" *साउथ एशिया रिसर्च* 29.3 (2009): 199-221।
8. अग्रवाल, आशीष। "वन अधिकार अधिनियम का कार्यान्वयन, बदलते वन परिदृश्य, और भारत में "आरईडीडी+ की राजनीति।" *जर्नल ऑफ रिसोर्सेज, एनर्जी एंड डेवलपमेंट* 8.2 (2011): 131-148।
9. पामंगकास, काह्यो। "दक्षिण-पूर्व एशियाई अध्ययन में दृष्टिकोण: क्षेत्र अध्ययन में उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धांतों का विकास।" *सुवान्नभूमि* 7.1 (2015): 59-76।

10. रॉय, अनिरबन। "औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक भारत में वन अधिनियमों और नीतियों का आलोचनात्मक मूल्यांकन, 'वन अधिकार अधिनियम-2006' पर जोर देते हुए।" *एशियन जर्नल ऑफ साइंस एंड टेक्नोलॉजी* 8.9 (2017): 5501-5505।
11. घोष, मनोरंजन, और सोमनाथ घोषाल। "उप- हिमालयी पश्चिम बंगाल में वानिकी और वन संस्कृति का ऐतिहासिक भूगोल, 1757-2015।" *अंतरिक्ष और संस्कृति, भारत* 6.5 (2019): 215-227।
12. सेनगुप्ता, सोहिनी, और मनीष के. झा। "सामाजिक नीति और राज्य-समुदाय संबंध: भारत में वन अधिकारों पर तूफान।" *ब्रिटिश जर्नल ऑफ सोशल वर्क* 50.8 (2020): 2423-2440।
13. बारा, जोसेफ। "स्कूली शिक्षा 'ढूंट' जनजातियाँ: छोटानागपुर में ब्रिटिश औपनिवेशिक मजबूरियाँ और शैक्षिक विकास , 1870-1930।" *भारत में जनजातीय अध्ययन: इतिहास, पुरातत्व और संस्कृति के परिप्रेक्ष्य*, बी.बी. कुमार द्वारा संपादित, खंड 1, प्रतिभा प्रकाशन , 2020, पृष्ठ 81-111।
14. दास, बापन कुमार, और दिनेश नारायण वर्मा। "झारखंड के संताल परगना में आदिवासी विद्रोह: 19वीं सदी में विदेशी शासन के प्रति आदिवासी प्रतिरोध का एक अध्ययन।" 2021.
15. कुमार, राकेश। "झारखंड, भारत के जनजातीय लोगों में समाज और संस्कृति परिवर्तन।" *पर्यटन विरासत और संस्कृति अध्ययन* 2.1 (2022): 73-77।

International Journal Of Engineering, Science, Technology And Innovation (IJESTI) ISSN: 2582-9734

https://ijesti.com/

https://doi.org/10.31426/ijesti

https://doi.org/10.31426/ijesti.2024.4.10.4813

CERTIFICATE OF PUBLICATION

संध्या लकडा, वाईबीएन यूनिवर्सिटी, रांची

for authoring and publishing the research paper titled

झारखंड में आदिवासी संघर्ष औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक वन अधिकार आंदोलन

In an Internationally Indexed Double Peer Reviewed & Refereed Journal

IJESTI Volume 4, Issue 10, October 2024

IMPACT FACTOR: 5.099

Editor-in-Chief

International Journal Of Engineering, Science, Technology And Innovation (IJESTI) ISSN: 2582-9734

https://ijesti.com/

https://doi.org/10.31426/ijesti

https://doi.org/10.31426/ijesti.2024.4.10.4813

CERTIFICATE OF PUBLICATION

- डॉ सुस्मिता महापात्रा, वाईबीएन विश्वविद्यालय, रांची

for authoring and publishing the research paper titled

- झारखंड में आदिवासी संघर्ष औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक वन अधिकार आंदोलन

In an Internationally Indexed Double Peer Reviewed & Refereed Journal

IJESTI Volume 4, Issue 10, October 2024

IMPACT FACTOR: 5.099

Editor-in-Chief

सम्मेलन पेपर(Conference paper)

GLOBAL CONFERENCE ON HUMANITIES, INNOVATION, AND SOCIAL TRANSFORMATION (GCHIST)

CONFRENCE (Phase II)- 2025

Theme: **ब्रिटिश वन नीतियाँ और आदिवासी प्रतिरोध: झारखंड आजीविका प्रभाव**

CERTIFICATE OF PRESENTATION

This is to certify that

संध्या लकड़ा

Scholar, History, YBN University Ranchi, Jharkhand, India

has successfully presented the research paper titled

"Women's Roles in Cultural Heritage Preservation"

We commend their contribution to advancing scholarship and critical dialogue in the field of Humanities and Social Sciences.

Organised By:

IJETEM
Venue: IJETEM Campus, Lucknow
Date: 02 July - 03 July 2025

GLOBAL CONFERENCE ON HUMANITIES, INNOVATION AND SOCIAL TRANSFORMATION

Crossref

MENDELEY